हिंदू-मुसलिम समस्या

लेखक

डाक्टर बेनीप्रसाद
अध्यापक, राजनीतिशास्त्र, प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम बार : १०००

मूल्य दो रुपये

मुद्रक—गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

अपनी बात

भारतवर्ष की प्रधान—कह सकते हैं एकमात्र—समस्या है हिन्दू-मुसलमानों की। भारत के स्वराज्य, शान्ति तथा भावी उन्नति के मार्ग में सब से बड़ी बाधा हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा है। इस बाधा को दूर करना प्रत्येक भारतवासी चाहता है, परन्तु अब तक इसका कोई कारगर उपाय न निकल सका। डा० बेनीप्रसाद ने दोनों के झगड़े के मूल कारणों पर बड़ी कुशलता से आधुनिक राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक सिद्धांतों के आधार पर निष्पक्ष होकर प्रकाश डाला है। उसके पश्चात् समस्या का सुलझाव जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं संसार के विभिन्न राजनीतिक प्रयोगों के आधार पर किया है वह बड़ा तर्कपूर्ण तथा सर्वग्राही है। इस विषय की ऐसी सर्वांगीण मनोवैज्ञानिक व्याख्या और किसी पुस्तक में नहीं है। इस कारण इसको हिन्दी पाठकों के सामने रखते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

साहित्य भवन लि०,
प्रयाग।

पुरुषोत्तमदास टंडन
मंत्री

भूमिका

इस पुस्तक में देश की विकट समस्या का विश्लेषण किया गया है और उसे सुलझाने के उपायों का दिग्दर्शन कराया गया है। इतिहास, मनोविज्ञान, सामाजिक और राजनीतिक संगठन की दृष्टि से सब प्रश्नों पर विचार किया गया है। इसलिए इस पुस्तक में पाठकों को संस्कृति और राजनीति इत्यादि के बारे में भी विचार-धाराएँ मिलेंगी।

अँगरेज़ी में यह पुस्तक १६४१ ई० में पहली बार प्रकाशित हुई थी। दूसरा संस्करण मिनर्वा बुकशोप, अनारकली, लाहौर से १६४२ ई० में प्रकाशित हुआ है। इस समय हिंदी और उर्दू के संस्करण भी प्रकाशित हो रहे हैं।

इस हिंदी संस्करण में हिंदू-मुसलिम प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाली आज तक की राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख कर दिया गया है। पुस्तक की भाषा सरल है और आशा है कि पाठकों को विषय सुगम्य होगा।

राजनीति विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
२९–११–४३

बेनीप्रसाद

विषय-सूची

प्रथम खंड—निदान

पृष्ठ-संख्या

दूसरा अध्याय—लोकतंत्र और साम्प्रदायिकता

तीसरा अध्याय—राजनीति और शासन-शक्ति

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

द्वितीय खंड—इलाज

चौथा अध्याय—उन्नति के पथ पर

पृष्ठ-संख्या

पाँचवाँ अध्याय—सांस्कृतिक सामंजस्य

छठा अध्याय—राजनीतिक समझौता

पृष्ठ-संख्या

प्रथम खंड

निदान

पहला अध्याय

इतिहास और मनोविज्ञान

सामाजिक जीवन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने जीवन को समाज में अर्थात् अन्य मनुष्यों के बीच रह कर ही सार्थक कर सकता है। परन्तु उसके स्वभाव में जो सामाजिकता है, वह केवल इतनी है कि वह अपने आस-पास के लोगों के साथ, जिनके वह निकट सम्पर्क में आता है, मिल-जुल कर रह सके। इससे बड़े समाज या मानव समुदाय के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करना वह पीढ़ियों के अनुभव से सीखता रहा है। समाज के जिन अंगों के साथ मनुष्य का अपना निजी सम्पर्क नहीं होता, उनकी ओर उसकी कर्तव्य की भावना सदा यथेष्ट मात्रा में सजग नहीं रही है। इसी कारण मानव समाज विभिन्न समुदायों में बँटा रहा है जिनके बीच न्यूनाधिक मात्रा में सहयोग भी रहा है और संघर्ष भी, एकीकरण की क्रिया भी कार्य करती रही है और पृथक्करण की भी, कोई शासक भी बना है और कोई शासित भी। इतिहास इनकी कहानियों से भरा पड़ा है। मनुष्य की सामाजिक चेतना की प्रबलता और गहराई समाज के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी आर्थिक आवश्यकताओं, उनके शान्ति तथा सुव्यवस्था के प्रबन्ध और युद्ध की आशंका, आदि, अनेक बातों पर अवलम्बित रही है। इसी सामाजिक चेतना के फल-स्वरूप रीति-रिवाज, धर्म तथा सदाचार के नियम, क़ानून, सामाजिक और राजनीतिक संगठन, आदि का विकास होता है। परिस्थिति तथा वातावरण में, विशेषकर मनुष्य के विचारों में, होने वाले परिवर्तनों

के साथ-साथ, इन सब में भी परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक जीवन अपने को अनेक रूपों में प्रकट करता है जिनके आधार में उसके व्यक्तियों की जाति, स्थान, धर्म अथवा संस्कृति सम्बन्धी एकता की भावना, नागरिक कर्तव्य, इतिहास और केवल मात्र संयोग, आदि अनेक बातें रहती हैं। यही बातें मनुष्य-मनुष्य को मिलाती हैं, और यही उन्हें दूसरों से अलग भी करती हैं। समाज के विभिन्न समुदायों को एक-दूसरे से अलग रखने वाली बातों में सब से मुख्य वर्ग की भावना है—एक समुदाय की यह भावना कि वह राजनीतिक हैसियत में, धन-दौलत में, पेशे में, शिक्षा में, ख़ानदान के बड़प्पन में, रहन-सहन के ढंग में, दूसरे समुदायों से भिन्न है।

जाति-पाँति

प्राचीन समय में कुछ देशों में, विशेषकर हमारे देश भारत में, समाज के इस वर्गीकरण में इस नियम से और भी दृढ़ता ला दी गई कि विवाह-सम्बन्ध अपने वर्ग के अन्दर ही होना चाहिए। भारत का जन-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चार वर्णों के अतिरिक्त अनेक जाति-पाँतियों में विभाजित रहा है जिनका मुख्य आधार यही है कि उनके बीच विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता। कौन लोग कहाँ के रहने वाले हैं, क्या काम करते हैं, आदि बातें भी इस जाति-पाँति के पृथक्करण में गौण रूप से सहायक रही हैं। पास-पास रहने वाले समुदायों का कालान्तर में घुल-मिल कर एक हो जाना बड़ी स्वाभाविक सी बात है। इसलिए विवाह-सम्बन्ध की रुकावट वाले नियम का कड़ाई के साथ पालन कराना आवश्यक हुआ। उसकी सहायता के लिए और नियम भी बने, जैसे यह कि खाना-पीना भी अपनी जाति-पाँति वालों के साथ ही होना चाहिए। बिरादरी के नियमों का पालन करने में ज़रा सी भी त्रुटि होने पर जाति से बाहर कर देने का भी नियम चला। जाति-पाँति की प्रथा मनुष्य के उस संकीर्ण दृष्टिकोण तथा उन संकुचित

विचारों का परिणाम है जो सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविक ही थे। समयान्तर में उसमें अनेक उलट-फेर हो गये हैं। उदाहरणतः किस बिरादरी के लोगों को क्या काम करना चाहिए, इस सम्बन्ध के नियम बिलकुल ढीले पड़ गये हैं। परंतु किस का विवाह-सम्बन्ध किसके साथ हो सकता है, यह नियम आज भी चल रहा है और इस दृष्टि से समाज कोई दो हज़ार बिरादरियों में बँटा हुआ है।

जाति और समाज-संगठन

जाति-पाँति जैसी संस्थाओं का मनुष्य के सामाजिक दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। मनुष्य को जीवन के संघर्ष में अपनी रक्षा के लिए पारस्परिक सहानुभूति तथा सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। दो आदमियों का एक क़ौम का न होना उनके बीच सहानुभूति के विकास में बाधक होता है। जाति-पाँति का भेद वर्ग-भेद से भी बड़ी बाधा है। इससे सामाजिक चेतना के विकास में रुकावट पड़ती है। इसके कारण इस भावना का कि मनुष्य-मनुष्य सब एक जाति के हैं—जो प्रोफ़ेसर गिडिंग्ज़ के अनुसार समाज का मूलाधार है—समुचित विकास नहीं हो पाता। विभिन्न सम्प्रदायों की भाँति विभिन्न जाति-पाँतियों का अस्तित्व भी लोकमत को यथेष्ट बल प्राप्त करने से रोकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसी लिए वह समाज की दृष्टि में भला बन कर रहना चाहता है। हर एक आदमी अपने समुदाय के साथ-साथ चलना चाहता है, उसके विरुद्ध नहीं, और जाति-पाँति तथा सम्प्रदाय उसकी समुदाय की भावना को सीमित कर देते हैं। जाति-पाँति के बन्धनों के कारण हिन्दू समाज उस एकता तथा एकमार्गता को प्राप्त नहीं कर सका है जो ब्रिटेन, फ़ान्स आदि यूरोपीय देशों के निवासियों ने आधुनिक युग में प्राप्त कर ली है।

भारतीय समाज में वर्ग-भेद

जब जाति-पाँति की प्रथा स्थापित हो गई तो धन-सम्पत्ति तथा शिक्षा के आधार पर जातियों के भीतर भी वर्ग बन गये। एक जाति अथवा उप-जाति के किसी वर्ग के लोग अन्य जातियों अथवा उपजातियों के अपने जैसे वर्गों के लोगों के साथ विवाह-सम्बन्ध तो नहीं जोड़ सकते, परन्तु जीवन की दूसरी बहुतेरी बातों में तो मिल-जुल कर कार्य कर सकते हैं। इससे उनके तंग दायरे का कुछ विस्तार भी हुआ और समाज-संगठन में भी कुछ सहायता मिली।

ग्राम-संगठन

गाँवों में संगठन की प्रवृत्तियों को और भी अधिक अवसर मिला। कोई सौ बरस पहले तक यात्रा करने और माल भेजने या मँगाने की सुविधाओं की कमी थी। इसलिए गाँवों को, जहाँ तक सम्भव हो, अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूरी कर लेने योग्य बनना ज़रूरी था। पास-पड़ोस के लोगों की ओर सहानुभूति तथा सहायता की स्वाभाविक भावना के साथ, मिल कर अपनी रक्षा का प्रबन्ध करने की आवश्यकता भी मौजूद थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जाति-पाँति तथा वर्ग-भेद के रहते हुए भी गाँवों के लोगों में एकता की भावना का विकास हुआ। इस एकता में कुछ कमियाँ भी थीं और बाहरी कठिनाइयाँ भी आती रहती थीं, फिर भी ग्राम-निवासियों के बीच कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी एक उच्च कोटि की संस्कृति का विकास हो गया था।

राष्ट्र

राष्ट्र अथवा राज्य का अधिपति सब की रक्षा की व्यवस्था करता था, इसके बदले में कर वसूल करता था, साथ ही धर्म, विद्या तथा कलाओं को प्रोत्साहन दे कर संस्कृति के विकास में सहायक बनता था।

इसके फल-स्वरूप लोगों का अपने निवास-स्थान से बाहर के लोगों के साथ भी सम्बन्ध जुड़ता था और उन्हें उनकी भी बात सोचनी पड़ती थी। उनका छोटा सा संसार कुछ बड़ा होकर उनके दृष्टिकोण का विस्तार होता था। जिन लोगों के हिताहित एक नहीं होते थे, उनके बीच भी एक काम-चलाऊ सामंजस्य स्थापित हो जाता था।

धार्मिक उदारता

कुछ अपवाद तो सभी नियमों के होते हैं, परन्तु मोटे तौर पर यह बात ठीक है कि प्राचीन भारत में लोगों को धर्म सम्बन्धी बातों पर विचार करने और विचारों का आदान-प्रदान करने की पूरी स्वतंत्रता थी। इसके फल-स्वरूप जनता में अनेक प्रकार के दार्शनिक विचार प्रचलित थे और उसके धार्मिक विश्वासों तथा विधि-विधान में भी विभिन्नता थी। परन्तु राज्य किसी एक मत विशेष का पक्ष लेकर अन्य मतों के अनुयायियों के साथ किसी प्रकार की कड़ाई नहीं करता था। सब को अपने-अपने मत के नियमों का पालन करने तथा उनके अनुकूल आचरण करने की स्वतंत्रता रहती थी।

सामाजिक व्यवहार

धर्म सम्बन्धी उदारता भारतीय इतिहास की एक भारी विशेषता रही है। सामाजिक रीति-रिवाज के सम्बन्ध में भी राज्य हस्तक्षेप नहीं करता था, हाँ, लोगों पर जाति तथा प्राचीनता-प्रेम का दबाव ज़रूर पड़ता था। प्रत्येक जाति, उप-जाति, समुदाय तथा स्थान के लोगों को स्वतन्त्रता थी कि वे अपने रीति-रिवाज का पालन करें। सब लोग एक ही रीति-रिवाज को मानने के लिए बाध्य नहीं किये जाते थे। इतना ही नहीं, मनु आदि स्मृतिकार तथा अधिकारीगण विभिन्न समुदायों के विभिन्न रीति-रिवाज को सरकारी क़ानून जैसा महत्व देने को तैयार रहते थे। हाँ, यह

अवश्य है कि प्रत्येक समुदाय इस बात का इच्छुक रहता था कि उसके व्यक्ति उसके रीति-रिवाज पर चलें। धार्मिक सुधारों, आर्थिक परिवर्तनों, राजनीतिक क्रान्तियों, शिक्षा की उन्नति अथवा अवनति, आदि के फल-स्वरूप रीति-रिवाजों में परिवर्तन भी होते ही रहते थे। सभ्यता गतिशील है और कोई भी सभ्य समाज अपने को परिवर्तन की क्रिया से पूरी तरह नहीं बचा सकता। परन्तु हाँ, लोगों में प्राचीन परिपाटी से प्रेम था और परिवर्तन धीमी चाल से ही होता था।

नवागन्तुकों का सम्मिश्रण

सारांश में, हिंदू समाज का संगठन इस प्रकार का था कि जाति-पाँति का बन्धन अटूट था परन्तु उसके बन्धनों की रक्षा करते हुए लोग अपने वर्ग के लोगों के साथ मिल-जुल कर रह सकते थे, गाँवों में एकता थी, लोगों में अपने राज्य के प्रति कर्तव्य की भी थोड़ी-बहुत भावना थी, धर्म सम्बन्धी बातों में सब को स्वतंत्रता थी, रीति-रिवाजों में विभिन्नता थी परन्तु उसके कारण कोई संघर्ष नहीं था, परिवर्तन की गुंजाइश थी परन्तु प्राचीन परिपाटी से प्रेम था। ऐसी परिस्थिति में बाहर से आने वाले नये लोगों को हिंदू समाज में मिल कर उसका अंग बन जाने में विशेष कठिनाई नहीं थी। शक, हूण आदि विदेशी लोग आये और हिंदू समाज ने उन्हें आत्मसात कर लिया। नवागन्तुकों की जातियाँ हिंदू समाज की नई उप-जातियाँ बन गईं और उन्हें चार वर्णों के अंदर कहीं न कहीं स्थान मिल गया। उन्होंने भारतीय भाषाओं को अपना लिया और यहाँ के रीति-रिवाज की मोटी-मोटी बातें ग्रहण कर लीं। संस्कृत, पाली और प्राकृत के साहित्य की संस्कृति को भी उन्होंने पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकार कर लिया। सब से बड़ी बात यह कि उन्होंने हिंदुओं के आत्मा, परमात्मा और प्रकृति, पाप और पुण्य, जीवन, मरण और मुक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपना लिया और यहाँ के

अनेक सम्प्रदायों में से किसी न किसी से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। भारतीयों को इतिहास का लेखा रखने की आदत बहुत कम थी, और इसलिए नये आने वालों के साथ होने वाले युद्ध की, उनकी जय-पराजय की, बात भी चंद पीढ़ियों के अंदर एक विस्मृत घटना हो जाती थी। समयान्तर में उनका विदेशी होना ही एक भूली हुई बात बन जाती थी, और वे वैसे ही हिन्दू हो जाते थे जैसे पहले वाले। ऐसी परिस्थिति में थोड़ा-बहुत जातीय सम्मिश्रण भी अनिवार्य ही था। स्थान-परिवर्तन करने वालों का कभी-कभी अपने नये निवास स्थान की किसी उप-जाति में प्रवेश हो जाता था। शिला-लेखों आदि में इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। योद्धाओं और सरदारों को क्षत्रिय की संज्ञा प्रदान कर देने वाले ब्राह्मण भी मिल जाते थे।

मुसलमानों का आगमन

परंतु आठवीं शताब्दी में सिंध की ओर से और ग्यारहवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों के रास्ते से आने वाले मुसलमानों की स्थिति इससे पहले आने वाले लोगों से भिन्न थी। इन्हें भी अपना अंग बना लेना हिंदू समाज के लिए एक दुष्कर कार्य था। ये मुसलमान विजेता, व्यापारी तथा प्रवासी सभी रूपों में आये थे। जो विजेता के रूप में आये थे उनके कारण तेरहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में और चौदहवीं शताब्दी में दक्षिणी भारत में उनका राज्य स्थापित हो गया। इसलाम के अनुयायियों के पास अपना धर्म था और अपना दर्शन। हिंदू समाज के बहुदेववाद और इसलाम के एकेश्वरवाद में बड़ा अंतर था। मुसलमानों को दूसरे लोगों से अपना धर्म मनवा लेने की भी इच्छा थी, जिसकी बदौलत विजेता लोग बहुधा अपने आक्रमण को जिहाद अर्थात् धार्मिक युद्ध का रूप भी दे सकते थे। भारत में आने के पूर्व ही मुसलमानों का अरबी और फ़ारसी साहित्य भी विकसित हो चुका था।

उन्होंने इतिहास लिखना भी सीख लिया था, और वे अपनी लड़ाइयों, लूट-मारों, मार-काटों और जीतों के लम्बे-लम्बे हालात दर्ज करते रहते थे। तीर्थ-यात्रा, व्यापार, भ्रमण आदि के द्वारा वे मध्य पूर्व के देशों से अपना सम्पर्क बनाये रखते थे और अरब, ईराक़ और ईरान के नये विचारों और आन्दोलनों की लहरें यहाँ पहुँचती रहती थीं। इन लोगों को अपने में आत्मसात कर लेना हिन्दू समाज के लिए बड़ा कठिन था। हिन्दुओं में तो जाति-पाँति थी ही, मुसलमानों में भी ऐसा मज़हबी जोश था जिसके कारण वे दूसरों में मिल नहीं सकते थे। यूरोप के स्पेन और बालकन प्रायद्वीप में भी उन्होंने कई शताब्दियों तक शासन किया था, परंतु वहाँ भी उनका एक अलग समुदाय ही बना रहा।

हिंदू-मुसलमान का आमना-सामना

शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गई कि हिन्दू संस्कृति ने जिस प्रकार मुसलमानों से पहले आने वाले विदेशियों को अपना लिया था उस प्रकार वह इन्हें नहीं अपना सकती। इसी भाँति यह भी स्पष्ट था कि मुसलिम संस्कृति ने जिस प्रकार मिस्र, अनातोलिया और ईरान के लोगों पर अपना सिक्का जमा लिया था उस प्रकार वह हिन्दुओं पर नहीं जमा सकती। हिन्दुओं का धर्म और दर्शन तीन सहस्र वर्षों के विचार तथा मनन का परिणाम था। उनके रीति-रिवाज अपनी परिस्थिति के पूर्णतः अनुकूल थे। मुसलमानों की विजय के पश्चात् हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था ने रक्षा का कवच धारण करके अपने को पहले की भी अपेक्षा दृढ़तर बना लिया। सामाजिक क्षेत्र में जो अधिकार अब तक राजाओं के हाथ में था वह अब पंडितों और पुरोहितों के हाथ में चला गया। आवश्यकतानुसार सामाजिक परिवर्तन होते रहने की सुविधा का लोप होने लगा और रूढ़िवाद ज़ोर पकड़ने लगा। यह अच्छी बात तो नहीं थी, परंतु इससे उस समय आत्म-रक्षा में सहायता अवश्य मिली।

इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में और चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण में हिन्दू और मुसलमान अपना-अपना धर्म और अपनी-अपनी संस्कृति लेकर एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े थे।

पारस्परिक प्रभाव

परन्तु विजय, लूट-मार और तोड़-फोड़ की पहली लहरों के समाप्त होते ही दोनों ओर से उन प्रवृत्तियों ने अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया जो मनुष्य के स्वभाव का अंग हैं और जो अनेकता को एकता तथा सम्पर्क को सहयोग में परिणत कर देने की चेष्टा करती हैं। कुछ ही समय बाद मुसलमान शासकों की सेनाओं में हिन्दू सरदार तथा सैनिक केवल मुसलमानों के ही नहीं हिन्दुओं के भी विरुद्ध युद्ध करते दिखाई पड़ने लगे। थोड़ा सा समय और बीतने पर हिन्दू राजाओं की सेनाओं में भी मुसलमान सरदार और सिपाही नज़र आने लगे। वाणिज्य और व्यवसाय के फल-स्वरूप भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच नये-नये सम्बन्ध स्थापित होने लगे। कुछ सरकारी अधिकारियों और कुछ फ़क़ीरों के प्रभाव से लाखों हिन्दुओं ने इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया, परन्तु धर्म बदल लेने का अर्थ यह नहीं होता कि लोगों के रीति-रिवाज, भाषा, विचार आदि सभी बदल जायँगे। इनमें से कुछ का बाहर से आये हुए मुसलमानों के साथ विवाह-सम्बन्ध भी जुड़ा। इसके सिवाय जो मुसलमान विदेशी होते हुए भी यहाँ बस गये उन पर इस देश के जल-वायु की भाँति ही इसके ज्ञान-विज्ञान और आर्थिक व्यवस्था का भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ना लाज़मी था।

एक भाषा

भारतीय मुसलमानों ने भारतीय भाषाओं को ग्रहण कर लिया। साथ ही उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में वे फ़ारसी और अरबी और

सरकारी कामों में फ़ारसी का उपयोग करते रहे। यहाँ की भाषाओं में से उन्होंने स्वभावतः दिल्ली के आस-पास की बोली को विशेष रूप से अपनाया क्योंकि दिल्ली ही उनकी मुख्य राजधानी थी। अभी भाषा सम्बन्धी खोज इतनी अधिक मात्रा में नहीं हुई है कि उसके विकास के सभी पहलुओं पर काफ़ी प्रकाश पड़ चुका हो, फिर भी अधिक सम्भावना इसी बात की है कि मुसलमानों और उनके सम्पर्क में आने वाले हिन्दुओं ने मिल कर इस बोली का व्याकरण स्थिर किया, उसके शब्द-भांडार को भरा और उसे सँवारा-सजाया, जिसकी बदौलत वह चौदहवीं शताब्दी से आज तक उत्तर भारत की मुख्य भाषा बनी हुई है। अरबी और फ़ारसी के शब्दों का अधिक संख्या में समावेश होने पर वह उर्दू के रूप में जनता के सामने आई। बहुत दिन बाद, संस्कृत शब्दों का अधिक मात्रा में समावेश करके, वह हिन्दी की प्रमुख शाखा—खड़ी बोली—के रूप में आई। उर्दू और हिन्दी दोनों का ढाँचा एक ही है, और व्याकरण भी। दोनों में समान रूप से व्यवहार में आने वाले शब्दों की संख्या भी बहुत बड़ी है, जो ज़्यादातर तो संस्कृत और प्राकृत से और बाक़ी अरबी और फ़ारसी से आये हैं। साधारण बोलचाल में उर्दू और हिन्दी का एक दूसरी से भेद करना भी कठिन हो जाता है। सत्रहवीं शताब्दी से उर्दू में एक महान साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिसकी रचना करने वालों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। इसी प्रकार मुसलमानों ने भी ब्रजभाषा, अवधी तथा भारत की दूसरी भाषाओं के काव्य-साहित्य के विकास में सहयोग दिया।

मध्यकालीन साहित्य

हिन्दी और उर्दू में कुछ अन्तर रहते हुए भी यह बात साफ़ ज़ाहिर थी कि एक ऐसी भाषा का उदय हो गया है जिसके द्वारा हिन्दू और मुसलमान देश के अधिकतर भाग में विचारों का आदान-प्रदान

कर सकते हैं। इसके सिवाय और भी भाषाएँ थीं जैसे बँगला, मराठी, गुजराती और सिंधी। इनके साहित्य के विकास में भी चौदहवीं से अठारहवीं या उन्नीसवीं शताब्दी तक हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिल-जुल कर काम किया। भारतीय साहित्य में, चाहे वह हिन्दुओं का रचा हो और चाहे मुसलमानों का, भारतीय वातावरण की ऐसी झलक थी जो भारत से बाहर के किसी साहित्य में नहीं हो सकती थी। मध्य युग के भारत की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसके साहित्य में भारतीयता—एक अपनापन—है। इसके सिवाय बहुत से हिन्दुओं ने फ़ारसी और अरबी की और बहुत से मुसलमानों ने संस्कृत की जानकारी हासिल की। अनेक हिन्दुओं की फ़ारसी रचनाएँ इतनी सुन्दर हैं कि वे आज तक जीवित हैं। ग्यारहवीं सदी ही में एक मुसलमान विद्वान्, अलबेरूनी, संस्कृत का पंडित हो गया था और उसने हिन्दुओं के ज्ञान और विज्ञान की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है वह स्थायी महत्व की वस्तु है। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में मुसलमान विद्वानों ने अथर्व वेद, उपनिषदों, योगवशिष्ठ, रामायण, महाभारत, भागवत, हरिवंश तथा अन्य पुराणों का फ़ारसी में अनुवाद किया। चौदहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के बीच भारत में जो भी साहित्यिक कार्य हुआ उसमें या तो हिन्दुओं और मुसलमानों का सहयोग दिखाई देता है और या उनका एक दूसरे पर पड़ने वाला प्रभाव।

कला

कला के क्षेत्र में उनका यह सहयोग और भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन भारत की इमारतों में भारत और अरब की शिल्प-कलाओं का ऐसा सम्मिश्रण और सामंजस्य दिखाई देता है जैसे दोनों मिल कर एक हो गई हों। इसीलिए उस युग की भारतीय शिल्प-कला में दृढ़ता भी है और सुन्दरता भी। किसी देश की आत्मा के प्रकटीकरण का एक और माध्यम चित्रकला है। इस क्षेत्र में भी सोलहवीं शताब्दी

से हिन्दू और मुसलमान चित्रकारों में ऐसा सहयोग दिखाई पड़ता है कि उस समय की चित्रकला वास्तव में भारतीय है। गायन, वादन और नृत्य में भी हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक संयुक्त कला का विकास किया जो आज भी एक है। इन सब क्षेत्रों में अठारहवीं शताब्दी तक बड़ा ठोस और स्थायी महत्व का कार्य हो चुका था जो वास्तव में भारतीय था, न हिन्दू और न मुसलमान।

धार्मिक सामंजस्य

धर्म के क्षेत्र में भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सामंजस्य की स्थापना हुई। यह तीन तरह से हुआ। पहले तो जिन हिन्दुओं ने इसलाम धर्म ग्रहण किया उन्होंने अपने पुराने रीति-रिवाज पूरी तरह नहीं छोड़े; उनमें से बहुतेरे तो नीम-मुसलमान ही हुए। दूसरे मुसलमान भी हिन्दुओं के सम्पर्क में आने पर उनके दर्शन और धर्म के प्रभाव से पूरी तरह नहीं बच सके। दूसरे, इसलाम में एकेश्वरवाद पर जो ज़ोर दिया गया है उसके सम्पर्क के फल-स्वरूप हिदुओं के बहुदेववाद में छिपे हुए एकेश्वरवाद को बल मिला। भक्ति-प्रधान संप्रदायों के उदय का एक कारण यह भी था। तीसरे, कबीर (१४४०–१५१८ ई०) और नानक (१४६९–१५३८ ई०), आदि, संतों के द्वारा ऐसे पथ भी चल निकले जिनमें हिंदू धर्म और इसलाम दोनों की शिक्षाओं का समन्वय था। दादू, चैतन्य, तुकाराम, आदि के उपदेशों और भजनों में भी ऐसा ही उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। मध्यकालीन भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक साहित्य में सर्वत्र तो नहीं परंतु हाँ, उसके एक अच्छे-ख़ासे भाग में मिलता-जुलता दृष्टिकोण मौजूद है।

रीति-रिवाज

धर्म तथा जाति-पाँति के भेद के कारण एक दूसरे के बीच विवाह-सम्बन्ध में तो रुकावट थी, परंतु वर्ग-विभाजन दोनों के लिए एक सा

ही था। ज़मींदारों, किसानों, व्यापारियों, कारीगरों, मज़दूरों, सिपाहियों, सरकारी कर्मचारियों, आदि प्रत्येक वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही शामिल थे। एक वर्ग के लोगों के हिताहित का साम्य उनमें एक ऐसी एकता ला देता है जो कम से कम आर्थिक क्षेत्र में उन्हें अपने ही धर्म के परंतु अन्य वर्गों के लोगों के मुक़ाबले में एक बनाये रखती है। एक वर्ग के लोगों में, चाहे वे हिन्दू हों और चाहे मुसलमान, पह-नावे-उढ़ावे, रहन-सहन, बातचीत और मिलने-जुलने के ढंग बहुत कुछ एक से थे। एक वर्ग के लोगों में स्त्रियों की स्थिति, विवाह की उम्र, और विवाह सम्बन्धी कुछ रीति-रिवाज भी एक से थे। हिन्दुओं और मुसलमानों का एक दूसरे के उत्सवों में शरीक होना भी स्वाभाविक ही था। इस सब के सिवाय एक बड़ी बात यह थी कि सदाचार और दुरा-चार विषयक बातों में दोनों धर्मों के विधि-निषेध में भी बड़ा साम्य था।

राजनीतिक सम्बन्ध

राजनीतिक क्षेत्र में राजस्थान, बुन्देलखण्ड, कङ्कण तथा अनेक पहाड़ी प्रदेशों के हिन्दू राजे मुसलमान बादशाहों का आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर भी आन्तरिक मामलों में स्वाधीन बने रहे, और कृष्णा नदी के दक्षिण के हिन्दू नरेशों ने तो सोलहवीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की रक्षा की। परन्तु मुसलमानों के भारत में आने का एक प्रभाव यह पड़ा कि केन्द्रीय शक्ति का बल बढ़ता रहा और सारा देश क्रमशः एक सम्राट के साम्राज्य का अंग बनता गया। इसके फल-स्वरूप देश भर में एक राजनीतिक प्रणाली की स्थापना होती रही। मुसलमान शासकों ने पुराने हिन्दू नरेशों की शासन-प्रणाली का ढाँचा स्वीकार कर लिया। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में शेरशाह और मुग़ल बादशाहों ने जो शासन-सुधार किये, उनका आधार यही ढाँचा था। गाँवों की आन्तरिक व्यवस्था में बहुत कम हस्तक्षेप किया गया।

अगर वे अपने हिस्से की मालगुज़ारी ठीक से अदा करते रहें, तो सरकार उनसे ज़्यादा छेड़छाड़ करना नहीं चाहती थी। हिन्दुओं की कुछ उपजातियाँ, जिनका काम मुख्यत: सरकारी नौकरी करना था, मुसलमान शासकों और उनकी हिन्दू प्रजा के बीच राजनीतिक शृंखला का कार्य करती थीं। मुसलमानों का राज्य में एक विशिष्ट स्थान था और बड़े-बड़े सरकारी ओहदे प्रायः उन्हीं को मिलते थे, परंतु अकबर (१५५६–१६०५ ई०) और जहाँगीर (१६०५–१६२७ ई०) के शासन-काल में यह भेद-भाव कम हो गया। शाही घराने के शाहज़ादों के राजपूत राजकुमारियों के साथ विवाह होने लगे और धर्म के क्षेत्र में अपने-अपने धर्म को मान सकने की स्वतंत्रता की उदार नीति घोषित कर दी गई। देश में जो नई राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हो रही थी, उसके अनुकूल धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

धर्म और राजनीति

मुग़लकाल की व्यवस्था में राष्ट्रीयता का बीज मौजूद था, परंतु उसे भीतर और बाहर दोनों ओर से ख़तरा था। धर्म का भेद देश में वर्त्तमान तो था ही, और अवसर पाकर राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में फिर उग्र रूप धारण कर सकता था। मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों में धर्म सब से अधिक शक्तिशाली है। वह अपने अनुयायी को यह बताता है कि उसे समस्त संसार के प्रति क्या दृष्टि-कोण रखना चाहिए। वह भले और बुरे, करने और न करने के सम्बन्ध में नियम घोषित करता है जिन पर उसके अनुयायियों की दृष्टि में दैवी आदेश की छाप लगी रहती है। वह मनुष्य की आत्मा पर अधिकार करके उसका पथ-प्रदर्शन करता है, उसे कष्ट में सान्त्वना प्रदान करता है और चिन्ताओं तथा संशयों से मुक्ति दिलाता है। उसका सम्बन्ध

मनुष्य की आत्मा से होने के कारण, वह उसके सभी कार्यक्षेत्रों का नियन्त्रण करने की चेष्टा कर सकता है। सभी धर्मों के सिद्धान्तों में मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना आधिपत्य स्थापित करने की सम्भावना सन्निहित रहती है। कोई धर्म अपने अनुयायियों पर किस सीमा तक अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है, यह इस बात पर निर्भर रहता है कि उसमें धार्मिकता और लौकिकता का कहाँ तक समन्वय हो पाया है या यों कहें कि उसके अनुयायी सांसारिक सफलता तथा आत्मिक कल्याण की कहाँ तक आशा कर सकते हैं। प्रत्येक धर्म के कुछ आधारभूत धर्म-ग्रन्थ होते हैं और अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर उसके अधिकारी उसके अनुयायियों से इस बात का आग्रह कर सकते हैं कि वे जीवन की सभी बातों में, अपने सभी कार्यों में, उनकी आज्ञाओं का पालन करें। जहाँ एक से अधिक धर्म प्रचलित हों, वहाँ यह सम्भावना सर्वदा बनी रहती है कि वे सब बातों में अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों की दुहाई देना शुरू कर दें और इस प्रकार एक दूसरे के निकट आने के बजाय उनके बीच की खाई और बढ़ती चली जाय।

अठारहवीं शताब्दी

मुग़ल-कालीन व्यवस्था के राजनीतिक पहलू में भी यह कमज़ोरी थी कि एक बादशाह की इच्छा पर ही सब कुछ अवलम्बित रहने के कारण, एक ही व्यक्ति उसे भारी धक्का पहुँचा सकता था। शाहजहाँ (१६२७-१६५८ ई०) के शासनकाल में सरकारी नीति अकबर और जहाँगीर की धार्मिक स्वतन्त्रता की उदार नीति से ज़रा हटी और इसके बाद औरङ्गज़ेब (१६५८-१७०७ ई०), जो अपने ही धर्म को एक मात्र धर्म मानता था और उसका पूर्णतः पालन करना आवश्यक समझता था, इस बात पर उतारू हो गया कि देश का शासन सभी बातों में इसलाम के नियमों के ही अनुसार हो। इसी समय मुग़ल साम्राज्य का

दक्षिण की ओर विस्तार होने का एक परिणाम यह हुआ कि दक्षिण के सुलतानों के शासन में मराठों को अपने आन्तरिक मामलों में जो स्वाधीनता प्राप्त थी उसका भी अपहरण होने लगा। फलतः राजस्थान, महाराष्ट्र और पंजाब में होनेवाले विद्रोहों ने मुग़ल साम्राज्य को इतना शक्तिहीन बना दिया कि अब वह कहने भर को ही जीवित था। अगले सौ वर्षों में एक नई व्यवस्था का विकास हुआ। हाल के सबक़ को भुलाया नहीं गया। पाँच शताब्दियों के सहयोग के फल-स्वरूप जिस हिन्दू-मुसलिम संस्कृति का जन्म हुआ था, उसकी रक्षा करके उसे और भी दृढ़ बनाने की कोशिश की गई। वह घोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी थी और अपनी उपयोगिता का प्रमाण दे चुकी थी। मुग़ल साम्राज्य के खँडहरों पर जो नये राज्य क़ायम हुए उनमें उनके नरेशों के जातिवालों या सहधर्मियों का—कहीं राजपूतों, कहीं मराठों, कहीं सिक्खों, कहीं जाटों, और कहीं मुसलमानों का—एक विशिष्ट स्थान रहा, परन्तु किसी धर्म के अनुयायियों पर धर्म के क्षेत्र में ज़ोर-ज़बरदस्ती करने के लिए राज्य की शक्ति का उपयोग नहीं किया गया। इसके सिवाय ऐसी बातें भी थीं जिनकी बदौलत एकता की भावना का बढ़ना स्वाभाविक था, जैसे वाणिज्य-व्यवसाय, सड़कों, नदियों और समुद्र के रास्तों से होने वाला व्यापार, सांस्कृतिक सामंजस्य, और शासन-प्रणाली की एकरूपता। मुग़ल साम्राज्य (१५२६-१७०७ ई०) के उत्थान के समय इन सब की बड़ी उन्नति हुई थी और यह विचार फैल गया था कि भारत एक देश है। यह हालत थी जब कि अठारहवीं शताब्दी में देश के एक बड़े भाग में मराठा साम्राज्य स्थापित हो गया।

आधुनिक युग

परन्तु इस बीच भारत बाहर के राष्ट्रों की व्यापार तथा साम्राज्य सम्बन्धी प्रतियोगिता के क्षेत्र में आ गया था। सौ वर्ष के अन्दर

(१७५७-१८५६ ई०) ब्रिटेन ने, ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा, भारत के अधिकतर भाग में अपना शासन स्थापित कर लिया और बाक़ी राज्यों को अपने मातहत कर लिया। अब भारत के इतिहास में एक ऐसे युग का प्रारम्भ हुआ जो वास्तव में नवीन था। विज्ञान की सहायता से सारा देश एक शासन-प्रणाली के सूत्र में बाँध दिया गया। यूरोप में तीन क्रान्तियाँ हुई थीं—धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक—जिनके पूरा होने में तीन सौ वर्ष से अधिक समय लगा था। अब वे तीनों भारत में एक साथ शुरू हो गईं। और कब ? जब कि वह अपनी राजनीतिक स्वाधीनता खो चुका था। पुरानी सामाजिक व्यवस्था की जड़ें तक हिल गईं और उसकी छाया में जिस संस्कृति का विकास हुआ था वह भी डाँवाँडोल हो गई। देश के विभिन्न वर्ग आपस में जिस सूत्र से बँधे हुए थे, केन्द्रीय शक्ति के बदल जाने से वह भी तेज़ी से टूटने लगा। यूरोप की व्यावसायिक क्रान्ति के सम्पर्क के फल-स्वरूप यहाँ के घरेलू उद्योग-धन्धों को धक्का लगा और यहाँ की ग्रामीण व्यवस्था में उथल-पुथल होने लगी। यूरोप के ज्ञान, विज्ञान और साहित्य के सम्पर्क के फल-स्वरूप यहाँ की संस्कृति में परिवर्तन की क्रिया का प्रारम्भ होना अनिवार्य था। पश्चिम से नई विचार-धाराएँ आईं और यहाँ भी नई विचार-धाराओं का उदय हुआ। गवर्नर-जनरल लार्ड विलिअम बेन्टिक (१८२७-१८३५ ई०) के शासन-काल में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार सरकारी नीति का अंग बन गया, जिससे इस मानसिक क्रान्ति की गति और भी बढ़ गई। अंग्रेज़ों के शासन-सम्बन्धी विचारों के फल-स्वरूप यहाँ की पुरानी शासन-प्रणाली की भी कायापलट हो गई। १८५७ में ग़दर हुआ जो अगले साल तक दबा दिया गया। अब उन पुराने ख़ानदानों का भी ख़ातमा हो गया जिनकी ओर जनता को राजभक्ति की भावना थी। अब नये ढंग के राजनीतिक आंदोलनों तथा संस्थाओं के लिए रास्ता साफ़ हो गया। बहुत समय से भारत का बाक़ी संसार के साथ सम्बन्ध

टूट सा गया था और इसलिए उसे इस बात की जानकारी भी नहीं हो पाई थी कि संसार में कहाँ क्या हो रहा है। अब उसका फिर संसार के साथ सम्पर्क हुआ था और इसलिए उसे उसके साथ चलने योग्य बनना था। यह सौ वर्ष का काल परिवर्तन-काल कहा जा सकता है। इसमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन हुआ, नये ढंग की व्यवस्था स्थापित हुई और खोई हुई राजनीतिक स्वाधीनता को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न हुआ।

परिवर्तन

व्यक्ति को पुरानी आदतें छोड़कर नई आदतें डालने में, और समाज को पुरानी परम्पराएँ त्याग कर नई परम्पराएँ स्थापित करने में समय लगता है। सब बातों को नये दृष्टिकोण से देखने और अपने को तथा समाज को तदनुकूल बनाने के लिए पग-पग पर विवेक-बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता पड़ती है। रीति-रिवाजों और संस्थाओं की जड़ में मनुष्यों की भावनाएँ रहती हैं जिनके अनुसार वे किसी कार्य को भला या बुरा कहते हैं और कम या अधिक महत्व देते हैं। परिवर्तन के समय इन भावनाओं का बदलना आवश्यक हो जाता है, और यह मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़ी कठिन बात है। कठिन या पेचीदा परिस्थिति में केवल भावना मनुष्य का मार्ग-प्रदर्शन करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होती, परंतु उन्नति के लिए जिन परिवर्तनों की आवश्यकता होती है उनके लिए भावनाओं का समर्थन भी आवश्यक होता है। विवेक और भावना के इस संघर्ष के फल-स्वरूप आगे बढ़ने में देर भी लगती है और गड़बड़ी भी पैदा होती है। आधुनिक युग में यह बात अनेक क्षेत्रों में अनेक रूपों में दिखाई पड़ रही है। जिस समय नये-नये सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या मौजूद रहती है उस समय जीवन पर स्थिरता के साथ और समष्टि रूप से विचार करना कठिन हो जाता है। पुराने सम्बन्धों

के अनेक पहलू समस्याओं के रूप में सामने आकर खड़े हो जाते हैं, बुझती हुई आग फिर से चमक उठती है, नये-नये विरोध उत्पन्न हो जाते हैं।

संसार और भारत

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सारा संसार आर्थिक दृष्टि से एक हुआ जा रहा था। भारत के लिए यह आवश्यक था कि वह किसी तरह संसार के साथ चलता हुआ बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे और कल-कारख़ाने क़ायम करके संसार की बढ़ती हुई सम्पत्ति में अपना हिस्सा बँटा सके। दूसरे, विज्ञान की उन्नति ने यात्रा और व्यापार के जिन शीघ्रगामी साधनों का निर्माण कर दिया था उनके कारण संसार से दूरी नष्ट हुई जा रही थी और दूर-दूर के देशों के बीच निकट का सम्पर्क स्थापित हो रहा था। जो लोग अब तक एक दूसरे से दूर रहे थे उनके निकट आ जाने के कारण क़ौम और जाति, स्वाधीनता और पराधीनता, साम्राज्यवाद और शोषण, आदि के नये नये प्रश्न उठ रहे थे। भारत को संसार के रंगमंच पर दृष्टि डाल कर उसमें अपने आत्म-सम्मान के अनुकूल स्थान प्राप्त करना था। तीसरे, विभिन्न देशों का पारस्परिक सम्पर्क उनकी संस्कृतियों में एक नवीन सजीवता ला देता है। पश्चिम के सम्पर्क ने भारत में धर्म, दर्शन, साहित्य, समाज और आर्थिक व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में विचार की नई लहरें पैदा कर दीं। भारत को इन नई बातों को इस प्रकार आत्मसात कर लेना था कि ये उसके अंग भी बन जायँ और उसका अपना रूप भी बना रहे।

आधुनिकता और पुनरुत्थानवाद

भारत के सामने जो यह नया कार्य उपस्थित था, उसे सम्पन्न करने के लिए उसे जो बौद्धिक तथा नैतिक प्रयत्न करना पड़ा है, वह बड़ा पेचीदा

है। फिर भी उसमें दो प्रवृत्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई पड़ती हैं, जो कभी साथ-साथ चलती हैं, कभी एक-दूसरे की सहायता करती हैं और कभी एक-दूसरे से टकराती भी हैं। वर्तमान हिन्दू-मुसलिम समस्या इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात का तथा उनके कारण होने वाली राजनीतिक प्रक्रिया का ही परिणाम है। सुविधा के लिए हम इन दो प्रवृत्तियों को आधुनिकता तथा पुनरुत्थानवाद कह सकते हैं।

पूर्व और पश्चिम

भारतीय संस्कृति में धार्मिक कथाओं, दार्शनिक विचारों, कल्पना-पूर्ण काव्यों, कलापूर्ण परम्पराओं तथा सौंदर्यपूर्ण कृतियों का असाधारण भांडार था। भारतीय दर्शनों में, चाहे वे हिन्दू हों और चाहे मुस-लिम, ज्ञान का अन्यतम उगद्म मनुष्य की अन्तरात्मा को माना गया था और इसलिए संसार के वातावरण की अपेक्षा अन्तरात्मा का महत्व अधिक था। पश्चिम के सम्पर्क के फल-स्वरूप इस बात की आशा दिखाई दी कि भारत में जिस बात की कमी रही है उसकी पूर्ति हो जायगी, अर्थात् उसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा लौकिक आचारशास्त्र की प्राप्ति हो जायगी। यह भी सम्भावना थी कि पूर्वीय और पश्चिमी सभ्यताओं के आदान-प्रदान के फल-स्वरूप एक नया समन्वय होकर संसार की उन्नति में उल्लेखनीय सहायता मिल सकेगी।

पश्चिम की दोरंगी नीति

ऐसा हो सकने में कई कारणों से रुकावट पड़ी है। भारत की सभ्यता प्राचीन है और प्राचीन सभ्यताओं में प्राचीनप्रियता तो अधिक होती है और परिवर्तनशीलता कम। इसके सिवाय भारत को पश्चिमी विचारों को ग्रहण करने में इसलिए भी कठिनाई हुई है कि वे विदेशी शासन के संग आये हैं। विदेशी शासन से भारत के आत्मसम्मान को

ठेस लगी और फलतः वह अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी साहित्य के द्वारा आने वाली यूरोप तथा अमरीका की बातों से प्रभावित होने में अपमान का अनुभव करके उनसे बचने की चेष्टा करने लगा। पश्चिमी सभ्यता की महानता और नैतिकता में संदेह होना भी स्वाभाविक था। पश्चिमी सभ्यता की नैतिकता में एक दोरंगापन दिखाई पड़ता है—वह अपने राष्ट्र या जाति या धर्म वालों के प्रति जिन नैतिक नियमों के पालन का आग्रह करती है, बाहरवालों के साथ भी उनके बरते जाने पर ज़ोर नहीं देती। सरकारों की बात तो जाने दीजिए, पश्चिम के कोई-कोई धार्मिक सम्प्रदाय तक धर्म की अपेक्षा जातीयता को अधिक महत्व देते हैं। अफ़्रीका, हिन्दुस्तान या पोलीनेसिया के द्वीपों में जिन लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण किया है वे सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्र में यूरोप के गोरों के बराबर के नहीं हो गये। यूरोप के राष्ट्रों के बीच आपस में भी युद्ध होते रहते हैं जिनकी भयानकता बढ़ती ही जा रही है। इन युद्धों का कारण या तो यह होता है कि वे अभी तक पुराने समय से चली आने वाली राष्ट्रीय अथवा जातीय विरोध की भावना को भूल नहीं पाये हैं और या यह कि उनके बीच उन प्रदेशों पर अधिकार जमा लेने की प्रतियोगिता जारी है, जिनके लोग पिछड़े हुए हैं परंतु जिनकी भूमि से कच्चा माल मिल सकता है या जिनके यहाँ यूरोप के कारख़ानों में बनने वाली चीज़ें बिक सकती हैं। एशिया और अफ़्रीका का शोषण करने में यूरोप वालों ने बहुधा करोड़ों मनुष्यों के हिताहित की उपेक्षा की है। गोरे शासकों ने कालों के विद्रोहों और उपद्रवों का दमन करने में बहुधा जिस आतंककारी नीति से काम लिया है, उससे यह मालूम होने लगता है कि उनकी सभ्यता का आधार जातीय आधिपत्य है, उसने राष्ट्रीयता को साम्राज्यवाद बना दिया है, और वह जनता के कल्याण की अपेक्षा आर्थिक शोषण को अधिक महत्व देती है। एक ओर तो बाहर वालों के लिए ये बातें हैं, दूसरी ओर अपने

यहाँ के लिए डेढ़ सौ बरस मे स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व, लोकतंत्र, साम्यवाद और समाजवाद का गुणगान होता रहा है और अंशतः ये बातें व्यावहारिक क्षेत्र में भी आ गई हैं। एक अंग्रेज़ कवि, रडयार्ड किपलिंग. ने कहा था कि ईसा मसीह की दस आज्ञाएँ स्वेज़ नहर से पूर्व के देशों में बरती जाने के लिए नहीं हैं। बहुत से लेखकों और राजनीतिज्ञों ने यह कह कर इस दोरंगेपन पर पर्दा डालने की कोशिश की है कि कुछ जातियों को प्रकृति ने ही कमज़ोर या पिछड़ी हुई बनाया है, जो जातियाँ अधिक सभ्य तथा उन्नत हैं उनका कर्तव्य है कि वे अपने को अन्य जातियों के हितों की रक्षक समझें; उन्नति धीमी चाल से ही हो सकती है, आदि, आदि। इस प्रकार के तर्कों से पाश्चात्य लोगों की आत्मा को भले ही कुछ संतोष हो जाता हो, पूर्वीय लोगों को तो यही आश्चर्य होता है कि ये लोग अपने को भी कितने भुलावे में रख सकते हैं।

संदेह और संशय

इस प्रश्न का उठना अनिवार्य ही था कि जिस सभ्यता के नेता अमानुषिक भौतिकवाद की पूजा कर सकते हैं या उसे चुपचाप सहन कर सकते हैं, क्या उसमें कोई भारी और गहरी त्रुटि नहीं है? क्या वह अनुकरण अथवा ग्रहण करने की वस्तु है? उसके स्पर्श से भारतीय जीवन की धारा कलुषित तो नहीं हो जायगी? माना कि विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है, परन्तु मानव प्रकृति पर विजय पाने के अधिक कठिन कार्य की ओर उसने ध्यान नहीं दिया है। पाश्चात्य मानव यह भूल गया है कि वातावरण का नियंत्रण नहीं वरन् अपना नियंत्रण ही सभ्यता का सार है। बाहरी सुख-सुविधाओं की वृद्धि का भी महत्व है, परंतु नैतिक दृष्टि से उनका महत्व तभी बढ़ता है जब मनुष्य की अंतरात्मा में सुधार हो, उसकी सहानुभूति का क्षेत्र

अधिक व्यापक हो, उसमें निस्स्वार्थता का विकास हो, वह दूसरों के हानि-लाभ का लिहाज़ करना सीखे, समाज के कल्याण के लिए त्याग कर सकने की क्षमता प्राप्त करे। पाश्चात्य सभ्यता ने मानवता की इस चेतना को अपनाने के अभी तक कोई लक्षण नहीं प्रकट किये हैं। इस कारण उसके प्रति संदेह और संशय की ही नहीं विरोध की भावना का भी उदय हुआ है।

पुनर्संगठन की आवश्यकता

यह स्पष्ट है कि भारत में पश्चिम के विचारों तथा व्यवहारों का उत्साहपूर्वक स्वागत होना तो दूर रहा, उनकी काफ़ी कड़ी आलोचना हुई। परन्तु एक नव युग का उदय हो चुका था और इसलिए अन्य देशों की भाँति भारत में भी पुनर्संगठन की आवश्यकता थी। पश्चिम में पाश्चात्य लोगों के बीच पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में जो आदर्श बन गये थे उनसे इस पुनर्संगठन में भारी सहायता मिल सकने की सम्भावना थी। अगर उनकी बदौलत पाश्चात्य राष्ट्र पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न, सुखी और शक्तिशाली बन सके, तो वे हमारे पुनर्संगठन में भी सहायक हो ही सकते थे।

आर्थिक क्षेत्र में

भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय के ढंगों में क्रमशः परिवर्तन होकर उनका पाश्चात्य व्यवस्था की ओर अग्रसर होना अनिवार्य ही था। भारत में अंग्रेज़ व्यवसायियों का निजी हित-साधन का प्रयत्न तो अवश्य एक कठिनाई उत्पन्न करने वाला मसला था, परन्तु यूरोप में जो औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी उसके प्रभाव से तो भारत अब किसी भी तरह बच ही नहीं सकता था। इस क्रान्ति की मुख्य बात यह थी कि नये-नये यंत्रों के आविष्कार के फल-स्वरूप घरेलू उद्योग-धन्धों का स्थान बहुत

कुछ कल-कारखानों ने ले लिया। इसके सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत रहे हैं। कुछ लोगों ने तो उसका यह कह कर स्वागत किया कि कलों और कारखानों के द्वारा हर एक वस्तु का भारी मात्रा में उत्पादन होने से जनता की सम्पन्नता बढ़ेगी और ग़रीबी दूर हो जायगी। कुछ लोगों ने उसे अनिवार्य परिवर्तन समझ कर स्वीकार किया। कुछ अन्य लोगों को नई व्यवस्था में वे बुराइयाँ भी दिखाई पड़ीं जिनके कारण पश्चिम में कार्लाइल और टाल्सटाय जैसे नीतिज्ञों ने उसका विरोध किया था, साथ ही उनका यह भी विचार था कि यह व्यवस्था भारतीय सभ्यता की परम्परा के अनुकूल नहीं है। इस नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लेना उन्हें किसी विदेशी सभ्यता के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देना सा प्रतीत हुआ। इसके विरुद्ध चर्खे का पुनरुद्धार करने, घरेलू उद्योग-धन्धों की रक्षा करने और गाँवों को फिर से स्वावलम्बी बनाने की पुकार में देश-भक्ति की भावना छिपी हुई है और उसका लोगों पर कुछ प्रभाव पड़ना आवश्यक था। उससे हमारी राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना को ठेस नहीं लगती। इस पुकार के पक्ष में यह कहा जा सकता था कि उससे हमारी पाश्चात्य भौतिकवाद से ही नहीं पाश्चात्य आधिपत्य से भी रक्षा हो सकेगी।

सामाजिक क्षेत्र में

राष्ट्रीय जीवन के एक अन्य महत्वपूर्ण क्षेत्र में भी आधुनिकता और पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्तियों का ऐसा ही घात-प्रतिघात दिखाई दिया। पश्चिम के साथ सम्पर्क होने के बाद शीघ्र ही समाज-संगठन तथा रीति-रिवाजों में सुधार की आवश्यकता दिखाई पड़ने लगी। विचारशील लोग यह अनुभव करने लगे कि राष्ट्रीय उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि जाति-पाँति के बन्धन तोड़ दिये जायँ या कम से कम ढीले कर दिये जायँ, स्त्रियों को शिक्षा देकर उनकी मान-मर्यादा में वृद्धि की जाय,

अछूतों का उद्धार किया जाय, बाल-विवाह की प्रथा का अंत किया जाय, सारांश यह कि समाज के विभिन्न अङ्गों के बीच अधिक न्याय की नीति बरती जाय। कुछ सुधारकों ने पश्चिमी जगत का उदाहरण सामने रख कर केवल विवेक और तर्क के आधार पर इन सुधारों का समर्थन किया। अन्य सुधारकों को अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों की सहायता लेना ज़्यादा अच्छा रास्ता मालूम हुआ। नवीन सुधारों को प्राचीन वेदकालीन व्यवस्था की ओर लौटने का रूप देने में एक साथ दो अच्छाइयाँ थीं। एक तो सुधारों के विरोधियों को उन्हीं के धर्मग्रंथों द्वारा निरुत्तर किया जा सकता था, दूसरे इस मार्ग को ग्रहण करने से राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना को भी किसी प्रकार की ठेस नहीं लगती थी।

धार्मिक क्षेत्र में

जो बात समाज-सुधार के सम्बन्ध में ठीक थी, वह धार्मिक क्षेत्र में और भी अधिक लागू थी। धर्म के क्षेत्र में तो पश्चिम से कुछ ग्रहण करना सरासर विधर्मीपन की बात होती। क्या प्राचीन भारत में दैवी ज्ञान का अपूर्व भांडार नहीं था? क्या हमारे यहाँ गहन विचारों से परिपूर्ण दर्शनशास्त्रों की कमी थी? और अब तो यूरोप के विचारशील व्यक्ति भी उनकी प्रशंसा करने लगे थे। निस्संदेह उनमें परमात्मा की आराधना तथा लोक-कल्याण की साधना के सभी विभिन्न मार्ग उपस्थित थे। सुधारकों का कार्य केवल इतना था कि वे उन्हें समझें और उनका उचित उपयोग करके अपने समाज के धार्मिक जीवन को पवित्र तथा उच्च बनावें।

सुधार आन्दोलन

सन् १८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने बंगाल में जिस ब्रह्म समाज की स्थापना की वह एक सुधार आन्दोलन था, साथ ही उसमें

पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति ज़ोरों से काम कर रही थी। सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानंद सरस्वती ने उत्तरी भारत में जिस आर्य समाज की स्थापना की उसके सम्बन्ध में यह कथन और भी ठीक है। आर्य समाज ने केवल वेदों को ही अपने सुधारों का आधार माना और स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य धर्मग्रथों के सम्बन्ध में यह नीति ग्रहण की कि जहाँ उनका मत वेदों से नहीं मिलता वहाँ वे मान्य नहीं हो सकते। बम्बई के प्रार्थना समाज का आदर्श भी बहुत कुछ ब्रह्म समाज जैसा ही था। सन् १८७५ ई० में ही एक और संस्था की भी स्थापना हुई। इसका नाम था थियोसफ़ीकल सोसाइटी और इसके संस्थापक थे एक अमरीकन सज्जन, कर्नल ऐलकौट। इनका एक मुख्य उद्देश्य यह था कि हिंदू जाति अपने प्राचीन अध्यात्मवाद तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर दृढ़ता-पूर्वक आरूढ़ रहे। श्रीमती एनी बीसेन्ट का सन् १८९२ ई० में भारत में आगमन हुआ और इसके बाद उन्होंने इस संस्था का बड़े उत्साह और ज़ोरों के साथ नेतृत्व किया। भारत के विभिन्न भागों में जो अन्य धर्म-सुधारक अथवा समाज-सुधारक हुए उनके भाषणों तथा लेखों में भी इस पुनरुत्थानवाद की झलक दिखाई पड़ती है। उनका प्रयत्न यह था कि हिंदुओं में जो अंधविश्वास प्रचलित हो गये हैं, जिनके कारण वे अपनी विचारशक्ति खोकर पतित और सच्चे धर्म से दूर हो गये हैं, उनसे उन्हें मुक्ति दिलाई जाय। उनकी पुकार यह थी कि फिर वेदों के अथवा शास्त्रों के मार्ग पर लौट चलो।

मुसलमानों के सुधार आन्दोलन

मुसलमानों में इससे मिलती जुलती यह आवाज़ उठी कि रसूल पाक के या पहले ख़लीफ़ाओं के रास्ते पर लौट चलो। परंतु मुसलमानों के सुधार आंदोलन में पेचीदगी पैदा करने वाली दो बातें और भी थीं— एक तो उनका पश्चिमी एशिया के देशों के साथ सम्पर्क और दूसरे

अपने खोये हुए वैभव तथा साम्राज्य की स्मृति। सार्वभौम-इसलामवाद के आंदोलन में भी पुनरुत्थानवाद की झलक मौजूद है। उसका आग्रह इस बात पर रहा है कि यूरोपियन आधिपत्य से मुक्ति पाकर मुसलमानों के धार्मिक शासन का गौरवपूर्ण युग फिर से लाया जाय। उन्नीसवीं सदी के शुरू में हाजी शरियत अल्ला ने, अरब के वहाबी आंदोलन से प्रभावित होकर, अपने सहधर्मियों को यह उपदेश दिया कि इसलाम की प्राचीन पवित्रता की ओर लौट चलो और उससे भिन्न जो रीति-रिवाज और तौर-तरीक़े चल गये हैं, उन सब को छोड़ दो। उनकी धारणा थी कि अंग्रेज़ी शासन में आ जाने के समय से हिंदुस्तान दारुल-इसलाम (अर्थात् इसलाम या शांति का देश) न रह कर दारुल-हर्ब (अर्थात् युद्ध का देश) बन गया है। उनके पुत्र दूधू मियाँ ने मनुष्य-मनुष्य की समानता की घोषणा की, दीन-दुखियों का बड़े ज़ोरों से पक्ष लिया। इसलाम की प्रारम्भिक पवित्रता का समर्थन किया और ग़ैर-इसलामी रीति-रिवाजों का विरोध किया। रायबरेली के सैयद अहमद ने मुसलमानों को रसूल के रास्ते पर ले जाने के लिए तरीक़ाए-मुहम्मदिया की स्थापना की और धार्मिक युद्ध की भी सम्भावना देखी। उन्होंने मुसलमानों में प्रचलित विवाह, शव-संस्कार, आदि से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से रीति-रिवाजों को, जिन में धन का अपव्यय होता था, यह कहकर रोकने की कोशिश की कि वे रसूल के उपदेशों के अनुकूल नहीं हैं। इसी समय के आसपास अहले-हदीस की स्थापना हुई। इसके नेताओं ने इसलाम के एकेश्वरवाद तथा क़ुरान शरीफ़ और हदीसों के महत्व पर ज़ोर दिया और पीरों, फ़क़ीरों आदि की पूजा का विरोध किया। मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद क़ादियानी (१८३९-१९०८ ई०) के प्रयत्नों में भी इसलाम की प्रारम्भिक महानता को पुनः स्थापित करने की स्पष्ट चेष्टा है।

अलीगढ़ कालेज

इसलाम की प्राचीन महत्ता पर ज़ोर देने वाले मुसलमानों के ये सुधारक अंग्रेज़ी शिक्षा के विरोधी थे और उसे अधार्मिक कहते थे। सर सैयद अहमद ख़ाँ (१८१७-१८९८ ई०) का मत इनसे भिन्न था। उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार धर्म के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करती, इसलिए उसके रहते भी हिंदुस्तान को दारुल-इसलाम कहा जा सकता है। ये भी क़ुरान शरीफ़ को उतना ही महत्व देते थे, परंतु यह कहते थे कि उसका अर्थ समझदारी के साथ लगाना चाहिए। ईसाई धर्म और इसलाम के बीच जो साम्य है, उस पर भी इन्होंने ज़ोर दिया और यह भी कहा कि क़ुरान शरीफ़ में कोई बात ऐसी नहीं है जो समाज-सुधार या औरतों को तालीम देने और उनका रुतबा बढ़ाने का विरोध करती हो। इनका सबसे बड़ा काम सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ में मुहमडन ऐंग्लो-ओरिअंटल कालेज की स्थापना थी, जिसके द्वारा ये नई शिक्षा और पुरानी विद्या के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे।

पुनरुत्थानवाद का हितकर प्रभाव

प्राचीनप्रियता से प्रेरित पुनरुत्थानवादी आंदोलन इतिहास में कोई नवीन बात नहीं है, सभी धर्मों में ऐसी बातें हुई हैं। परन्तु भारत के आधुनिक परिवर्तन-काल में इसने बड़ा महत्व धारण कर लिया। इस प्रवृत्ति में कुछ अच्छी बातें भी थीं, कुछ बुरी भी। उसने कुछ कठि-नाइयों को हल भी कर दिया और कुछ नई कठिनाइयाँ पैदा भी कर दीं। राजनीतिक क्षेत्र में विदेशी आधिपत्य स्थापित हो जाने से भारत-निवासियों की आत्मसम्मान की भावना को जो चोट पहुँची थी, पुन-रुत्थानवाद से उसका असर बहुत कुछ कम हो गया। पुनरुत्थानवाद में पाश्चात्य प्रभावों से बचने का मार्ग था, वर्तमान अधोगति के मुक़ा-

बले में रखने के लिए कुछ गर्व कर सकने योग्य वस्तु थी, और भविष्य में धर्म की विजय की आशा थी। पुनरुत्थानवाद की भावना ने लोगों को यह बल प्रदान किया कि वे पश्चिम की ऊपरी चमक-दमक से चकाचौंध न हो जायँ, उसके मनमोहक फ़ैशन पर मोहित न हो जायँ, और उसकी उपयोगी बातों को छाँट-छाँट कर ग्रहण करने के बजाय उसकी सभी बातों का अनुकरण न करने लगें। उससे समाज-सुधार के कार्य में सुविधा हुई और कतिपय नवीन विचारधाराओं का अपनी प्राचीन व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहायता मिली। पुनरुत्थानवाद में लोगों को प्रेरणा, उत्साह और बल प्रदान कर सकने की शक्ति है और उससे स्वतंत्रता तथा स्वराज्य की भावना भी विकसित होती है।

परन्तु साथ ही कुछ बातों में पुनरुत्थान की भावना में आधुनिकता की निंदा और विरोध करने की भी प्रवृत्ति है और इस प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्रों में देश को आधुनिक जगत के समकक्ष बनने से रोकता है। पुनरुत्थानवाद केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकता, और इस क्षेत्र में भी वह प्राचीनतम आदर्शों से ही प्रभावित न होकर, बीच के समय की भी अनेक विचारधाराओं, ऐतिहासिक घटनाओं तथा परम्पराओं से भी शिक्षा ग्रहण करने की कोशिश करता है। एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि वह इन विचारों, घटनाओं अथवा परम्पराओं को सदा उनके वास्तविक रूप में नहीं देख पाता, बल्कि पुरानी बातों को नई आँखों से देखने के कारण कभी-कभी उनके काल्पनिक रूप खड़े कर लेता है और उन्हें मार्गदर्शक भी बना लेता है।

पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी में पुनरुत्थानवाद का ज़ोर बढ़ने का सब से बुरा परिणाम यह हुआ कि उसने विभिन्न धर्मों के अनुयायियों

के बीच पृथक्करण की भावना को बढ़ा दिया। हिन्दुओं ने अपने सम्मुख जो आदर्श रक्खा वह था वैदिक युग का भारत, और मुसलमानों का आदर्श था प्रारम्भिक ख़लीफ़ाओं के समय का अरब। इन दोनों के बीच बड़ा अन्तर था। शताब्दियों तक साथ रह कर उन्होंने जो पारस्परिक सामंजस्य स्थापित किया था, उसे भूल कर अब वे अपनी-अपनी पुरानी परम्पराओं और गाथाओं को याद कर रहे थे, जो न एक देश की थीं और न एक काल की, और जिनके वीर तथा नायक भी भिन्न-भिन्न थे। इस प्रकार जीवन के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में वे एक-दूसरे से और भी दूर हुए जा रहे थे। दो धर्म वालों की पुनरुत्थानवाद की धाराएँ एक दूसरे को बल भी प्रदान कर रही थीं, एक दूसरे से प्रतियोगिता भी कर रही थीं और दृष्टिकोण में एक दूसरे से अधिकाधिक भिन्न बन रही थीं। अपनी धार्मिक तटस्थता की नीति के कारण ब्रिटिश सरकार इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करके दोनों धाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित कराने की कोशिश नहीं कर सकती थी। अपने हिताहित की दृष्टि से भी उसकी यह नीति स्वाभाविक ही थी। उसने दोनों धाराओं को स्वीकार किया, शुरू में पुनरुत्थानवाद की मुसलिम धारा के कुछ पहलुओं का दमन करने की कोशिश की, और फिर अपने को दोनों के अनुकूल बना लिया। अब नेतृत्व उन लोगों के हाथों में था जो अपने धर्म को बिलकुल शुद्ध रूप में देखना चाहते थे और धर्मग्रंथों का उन्होंने जो अर्थ लगाया था उससे ज़रा भी इधर या उधर टस से मस होना नहीं चाहते थे। इस नई धारा का एक नतीजा तो यह हुआ कि जो लोग हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान बने थे परन्तु अपने पहले के विचारों, विश्वासों और रीति-रिवाजों को पूरी तरह नहीं छोड़ पाये थे, उन्हें पूरी तरह मुसलमान बनाने की कोशिश की गई। दूसरी ओर हिन्दुओं की जिन जातियों ने रहन-सहन का मुसलमानी ढंग अपना लिया था, वे उसे छोड़ कर या तो हिन्दूपन या आधुनिकता की ओर खिंचने लगे। हिन्दू

और मुसलमान दोनों ही उन रीति-रिवाजों को छोड़ने लगे जो उन्होंने एक दूसरे से ग्रहण की थीं और जिनकी बदौलत दोनों धर्मों के अनुयायियों के बीच मेल-जोल क़ायम हो गया था। जिन बातों या कामों में हिन्दू-मुसलमानों का मिलना-जुलना होता था उनका दायरा घटने लगा। जब दो धर्मों के अनुयायी पास-पास रहते हैं तो वे एक दूसरे के त्योहारों और उत्सवों में भी भाग लेने लगते हैं और मनुष्य के स्वभाव में जो दूसरों से मेल-जोल बढ़ाने और उनकी नक़ल भी करने की प्रवृत्ति है उसकी बदौलत धीरे-धीरे ये उत्सव दोनों के उत्सव बनने लगते हैं, परन्तु पुनरुत्थानवाद का परिणाम यह होता है कि एक धर्म के मानने वाले दूसरे धर्म के उत्सवों में शामिल न हों। उसका एक परिणाम यह भी होता है कि दो धर्मों के अनुयायियों के बीच खान-पान, पहनावा-उढ़ावा, बोल-चाल, आदि के ढंगों में जो भेद पहले से मौजूद हैं वे क़ायम तो रहते ही हैं, और नये-नये भेद भी निकलने लगते हैं; और लोगों को एक दूसरे से अलग करने वाली इन विभिन्नताओं को दोनों ओर वाले 'सांस्कृतिक' विभिन्नता कह कर उनका महत्व बढ़ाने लगते हैं। पुनरुत्थानवाद हिन्दुओं और मुसलमानों की साहित्यिक रचनाओं के बीच भी एक दीवार खड़ी कर देता है और बच्चों की शिक्षा के लिए अलग-अलग विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय तक खड़े करा देता है। वह साहित्य पर भी अपनी छाप लगा देता है और उर्दू की रचनाओं से संस्कृत के शब्दों को और हिन्दी, बँगला आदि की रचनाओं से अरबी-फ़ारसी के शब्दों को निकाल बाहर कराने लगता है। वह लोगों का साम्प्रदायिक आधार पर संगठन कराने लगता है और अक्सर ऐसा उग्र रूप भी धारण कर लेता है जिसकी बदौलत विभिन्न सम्प्रदायों के बीच धार्मिक अथवा अन्य प्रश्नों को लेकर घोर वाद-विवाद छिड़ जाता है।

पुनरुत्थानवाद और इतिहास

सभी बड़े आंदोलनों की भाँति पुनरुत्थानवाद इतिहास पर भी अपनी छाप लगाता है और लोग ऐतिहासिक घटनाओं को एक विशेष दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। उदाहरणतः उसने प्राचीन भारत और मध्य-कालीन अरब पर ऐसा पवित्रता का पर्दा डाल दिया है कि उनकी किसी बात की आलोचना करना कठिन हो जाता है। पुनरुत्थानवादी हिंदू उस लम्बे समय का बखान करता है जब हिन्दू जाति स्वाधीन थी। उस समय के गाँव स्वावलम्बी थे, घर-घर चर्ख़ा चलता था, लोगों का जीवन सरल था, उनमें संतोष था और वे आध्यात्मिक विषयों में दत्त-चित्त रहते थे, इन सब बातों का वह इस प्रकार वर्णन करता है जैसे उस समय पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आया था। मुसलिम पुनरुत्थानवादी को उन पाँच सदियों का बखान करने में आनंद आता है जब भारत में मुसलमानों की बादशाहत थी। मराठा पुनरुत्थानवादी यह सोचता है कि अगर अंग्रेज़ों ने हस्तक्षेप न किया होता तो उसके पूर्वज सन् १७६१ ई० वाली पानीपत की पराजय से शीघ्र ही सँभल गये होते और उन्होंने सारे देश में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया होता। सिक्ख पुनरुत्थानवादी यह नहीं भूल सकता कि भारत की स्वतंत्रता के अंतिम दिनों में उसके पूर्वज पंजाब के शासक थे और पंजाब को अंग्रेज़ों ने सन् १८४८ ई० में उन्हीं से पाया था। इतिहास की जो घटनाएँ वैसे केवल शान्तिपूर्वक विचार करने की बातें होतीं, पुनरुत्थानवाद के प्रभाव से विभिन्न सम्प्रदाय वालों के लिए उनकी महानता की सूचक और इसलिए उनकी भावी आकांक्षाओं का आधार बन जाती हैं और इस प्रकार उनके बीच भेदभाव बढ़ाने में सहायक होती हैं। महाराष्ट्र में मुसलमानों की संख्या इतनी कम है कि वहाँ हिन्दू-मुसलिम समस्या उत्पन्न ही न होनी चाहिए थी, परन्तु फिर भी महाराष्ट्र ने हिन्दू महा-

सभा को कई नेता प्रदान किये हैं। संयुक्त प्रान्त में मुसलमानों की संख्या केवल १४ प्रतिशत है, परन्तु मुसलिम लीग की नीति पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है, जिसका एक कारण यह है कि वे वहाँ के हैं जहाँ दिल्ली, आगरा, लखनऊ और जौनपुर हैं जो मुग़ल साम्राज्य के समय में मुसलमानों की राजधानियाँ थीं। पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्तियों को याद रखने पर यह बात आश्चर्यजनक नहीं मालूम होगी कि कुछ बातों का तारतम्य जोड़कर मुसलमान कुछ प्रान्तों में फिर मुसलिम शासन स्थापित करने का स्वप्न देखते हैं, और न यही आश्चर्य की बात है कि सिक्ख इसका घोर विरोध करते हैं।

पुनरुत्थानवाद में बाधाएँ

परन्तु पुनरुत्थानवाद के विकास में दो बड़ी रुकावटें हैं। एक तो जब किसी धर्म के अनुयायियों में पुनरुत्थान की भावना फैलती है तो उसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों को लेकर भी यही भावना कार्य करने लगती है, जिसका नतीजा यह होता है कि पुनरुत्थानवादियों में आन्तरिक संघर्ष भी बढ़ने लगता है जिससे पुनरुत्थानवाद की शक्ति को धक्का लगने लगता है। दूसरे, पुरानी परिस्थिति में जब आवश्यक परिवर्तन और हेर-फेर हो चुकते हैं और राष्ट्रीयता तथा आधुनिकता की उन्नति के लिए भूमि तैयार हो जाती है तो पुनरुत्थानवाद शीघ्र ही शक्तिहीन हो जाता है।

आधुनिकता

आधुनिक भारत के जीवन में पुनरुत्थानवाद एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है, परन्तु वही एक मात्र प्रवृत्ति न थी और न हो सकती थी। कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो आधुनिक विज्ञान के आगमन को रोक सके या यात्रा तथा व्यापार के साधनों पर उसका प्रभाव न पड़ने दे। उद्योग-धन्धों में भी यन्त्रों का प्रवेश होकर उनके ढंगों में आधुनिकता का आना

अनिवार्य था, यद्यपि इस क्षेत्र में उन्नति राजनीतिक कारणों से कुछ धीमी चाल से हुई है। विज्ञान पुनरुत्थानवाद का नहीं, आधुनिकता का समर्थक तथा सहायक है। उन्नीसवीं शताब्दी में भी पश्चिम के समाज-शास्त्र के प्रति यहाँ के शिक्षित वर्ग में प्रशंसा की भावना फैलने लगी थी और विचारशील व्यक्ति केवल विवेक तथा मानवता के आधार पर यहाँ की समस्याओं पर विचार करने लगे थे। पिछले साठ वर्षों में धार्मिक कट्टरता और सामाजिक रूढ़िवाद की प्रवृत्तियों की शक्ति घटती ही रही है। केवल राजनीति ही नहीं कला और साहित्य—कविता, कहानी, उपन्यास, इतिहास-लेखन—के क्षेत्रों में भी बहुसंख्यक लोग राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। राजनीतिक नेता और कार्य-कर्त्ता मोटे तौर पर इस बात पर एकमत थे कि भारतीय शासन-प्रणाली में क्रमशः इस प्रकार परिवर्तन होना चाहिए कि लोकतंत्र की स्थापना हो जाय। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वराज्य की नई भावना का उदय हुआ। पश्चिम की उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधारा में राष्ट्रीयता तथा विचारों की उदारता के साथ ही एक बात और भी स्पष्ट थी, और वह थी परलोक के स्थान पर इहलोक का महत्व। पश्चिम के सम्पर्क का यह परिणाम होना अनिवार्य था कि हमारी पुरानी सामाजिक व्यवस्था में उथल-पुथल मचाती। पुराने सामाजिक बन्धन शिथिल पड़ने लगे और व्यक्तिवाद का महत्व बढ़ने लगा। चाहे शिक्षा के कारण हो और चाहे घटनाक्रम के कारण, पुरानी रीतियों और परम्पराओं के टूटने में हानि की सम्भावना अवश्य है, परन्तु साथ ही मनुष्य की—व्यक्ति की—महत्ता बढ़ने में भी अच्छाई का अभाव नहीं है।

मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ

ऊपर हमने हिन्दुओं और मुसलमानों में कार्य करने वाली मनो-वृत्तियों का जो वर्णन किया है, उससे दोनों के बीच एक स्पष्ट साम्य

दिखाई पड़ता है। इसका कारण है दोनों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का साम्य। विज्ञान इस मत का समर्थन नहीं करता कि मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की विभिन्नता का मुख्य कारण जाति-भेद होता है। कुछ बातें जो सामाजिक अथवा ऐतिहासिक कारणों से होती हैं, ग़लती से जाति-भेद का परिणाम समझ ली जाती हैं। भूमि, जलवायु, व्यवसाय और समाज-संगठन आदि वातावरण के फल-स्वरूप लोगों के शारीरिक गठन और इससे भी अधिक उनकी सामाजिक परम्पराओं में कुछ विशेषताएँ आ जाती हैं। परन्तु ये विशेषताएँ ही सब कुछ नहीं होतीं। मनुष्य के स्वभाव पर और दूसरी बातों का भी प्रभाव पड़ता है और इन विशेषताओं तथा अन्य बातों में एक दूसरे के कारण भी हेरफेर होते रहते हैं।

भारत के निवासियों में कुछ जातीय भेद दिखाई पड़ते हैं, उदाहरणतः पंजाब और दक्षिण के, महाराष्ट्र और बंगाल के, लोगों के बीच यह अंतर देखा जा सकता है। परन्तु यह अंतर इतना अधिक नहीं है कि उसके कारण भारत के निवासी अपने को एक न समझ सकें। इसके सिवाय एक बात और है। केरल (मालाबार) और सीमा-प्रान्त के निवासी तो जाति में भी एक हैं और धर्म में भी, परन्तु बाक़ी लोगों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उदाहरणतः बंगाल के हिन्दू और मुसलमान धर्म की दृष्टि से दो सम्प्रदायों के अनुयायी हैं परन्तु जाति की दृष्टि से बंगाली हिन्दू अन्य प्रान्तों के हिन्दुओं की अपेक्षा बंगाली मुसलमान का निकटवर्ती है, और इसी प्रकार बंगाली मुसलमान अन्य प्रान्तों के मुसलमानों की बनिस्बत बंगाली हिंदू का नज़दीकी भाई है। अधिकांश मुसलमान भारत के उतने ही प्राचीन निवासी हैं जितने कि हिंदू। जो मुसलमान बाद को बाहर से आये हैं, जैसे पटान और ईरानी, वे भी मोटे तौर पर उसी जाति के हैं जिसके उत्तरी भारत के हिंदू और फिर हिंदू से मुसलमान बनने वाले

लोगों के साथ उनका विवाह सम्बन्ध भी जुड़ता रहा है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि भारत-निवासियों ने शरीर-रचना तथा मनोवृत्तियों के रूप में अपने पूर्वजों से जो निधि या विरासत पाई है वह सभी जातियों और सम्प्रदायों के लिए एक सी ही है।

भारतीय स्वभाव

किसी भी देश के निवासियों के जातीय स्वभाव की व्याख्या कर सकना बड़ा कठिन होता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय स्वभाव को तर्क और व्याख्या करने में, सिद्धान्त और निष्कर्ष स्थिर करने में आनन्द मिलता है। वह बड़ा कल्पनाशील भी है और भावुक भी। अंग्रेज़ों का स्वभाव हम से बहुत भिन्न है। अंग्रेज़ भावुकता को दबा कर रखता है, तर्कों और सिद्धान्तों के प्रति अविश्वास रखता है और व्यावहारिता, संगठन तथा नियम-पालन को अधिक महत्व देता है। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि एक दूसरे के स्वभाव की विशेषताओं को न समझ सकने के कारण ब्रिटेन और भारत के बीच अनावश्यक ग़लतफ़हमी और बदगुमानी रही है। सन् १६२१, १६३१, १६३६ और १६४२ में समझौते की वार्त्ता भंग होने का भी एक कारण यही था। किसी हद तक इस स्वभाव-वैषम्य का ही यह परिणाम है कि भारत की ओर से घोषणाओं की माँग होती है और ब्रिटेन की ओर से घोषणाएँ करने में संकोच होता है। हिंदू-मुसलिम समस्या के सम्बन्ध में भारतवासियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ कुछ बातों में तो सहायक सिद्ध हुई हैं और कुछ बातों में बाधक। बहुत सी बातों के कम या अधिक महत्व के सम्बन्ध में दोनों का माप-दंड मिलता-जुलता ही है, दोनों ही में एक गहरी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है, दोनों ही में केवल सांसारिक हानि-लाभ को ही अधिक महत्व न देने का एक सा दृष्टिकोण है, दोनों ही में विद्या, चरित्र, वीरता तथा त्याग के प्रति

सम्मान प्रदर्शित करने की एक सी भावना है। दोनों ही के स्वभाव में सिद्धान्तों का विशेष महत्व होने के कारण, बहुत सी भेद-भाव बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों का प्रभाव कम होकर सांस्कृतिक विकास की रूपरेखा में साम्य अथवा सादृश्य उत्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर, सैद्धान्तिक निष्कर्षों को अधिक महत्व देने के ही कारण कभी-कभी समझौता कठिन हो जाता है। मिसाल के तौर पर हम कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच सन् १९३८ और १९३९ में होने वाली समझौते की वार्त्ताओं को ले सकते हैं। इन वार्त्ताओं के भङ्ग हो जाने, वरन् ठीक से प्रारम्भ ही न हो सकने, का कारण यही था कि मुसलिम लीग शुरू ही में यह स्वीकार करा लेना चाहती थी कि वह मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था है और कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और कांग्रेस इस बात को कदापि स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। यहाँ हमें इस प्रश्न पर कुछ नहीं कहना है कि लीग की यह माँग वाजिबी थी या नहीं और न इस पर कि कांग्रेस का उसे स्वीकार न करना उचित था या अनुचित। हमारा अभिप्राय केवल यह दिखाना है कि दोनों ओर वाले सैद्धान्तिक पहलुओं को कितना महत्व दे रहे थे। इसी मनोवृत्ति का ही एक परिणाम यह भी है कि जब कोई राष्ट्रीय अथवा साम्प्रदायिक दल अपनी राजनीतिक माँगें पेश करता है तो वह उन्हें तर्क की दृष्टि से सर्वांगीण बनाने की कोशिश करता है। भारतीय स्वभाव की भावुकता का एक दृष्टान्त झंडों और गीतों के प्रेम में देखा जा सकता है। ये मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ सभी भारतवासियों में समान रूप से वर्तमान हैं, इस बात का यही काफ़ी सबूत है कि जब कोई एक दल अपने लिए कोई झंडा या पुकार या गीत चुनता है, तो दूसरे दल भी शीघ्र ही उसके जवाब में वैसी कोई चीज़ तैयार कर लेते हैं। एक ही प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के कारण बनने वाले एक ही प्रकार के परन्तु प्रतियोगी प्रतीकों के कारण पिछले आठ-दस वर्षों के भीतर बहुत सी बदगुमानियाँ पैदा हुई हैं।

मनोवैज्ञानिक रोग का इलाज

स्वभाव की विशेषताओं को बदल देना सहज काम नहीं है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि उनसे होने वाली हानियों से बचने के उपाय में सब से पहली बात उनसे परिचित हो जाना है। भारतीय समाज के मनोवैज्ञानिक रोग के इलाज के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि यद्यपि तर्क, सिद्धान्त, व्याख्या और घोषणा बड़ी उपयोगी बातें हैं, परन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में उनका समझौते की आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक होता है। हमारा देश इस समय एक प्रकार की शासन-प्रणाली को त्याग कर दूसरे प्रकार की शासन-व्यवस्था में पदार्पण करता हुआ एक परिवर्तन-काल से गुज़र रहा है। पहले की शासन-व्यवस्था का उद्देश्य केवल यह था कि सेना और पुलिस के द्वारा देश की बाहरी शत्रुओं से और उसकी शांति की भीतरी शत्रुओं से रक्षा की जाय। शासन-व्यवस्था का नवीन उद्देश्य यह है कि शिक्षा-प्रचार तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति के द्वारा जनता के सुख-समृद्धि की वृद्धि की भी चेष्टा की जाय। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जनता के सहयोग की भारी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। इसे सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि लोग व्यावहारिक दृष्टिकोण से काम लें, आदान-प्रदान की आदत डालें, अनावश्यक बातों को महत्व न दें और छोटी-छोटी बातों को सिद्धान्त न मान बैठें। इसमें कोई ऐसी बात नहीं है जो भारतीय परम्परा या माप-दंड के प्रतिकूल हो। बात केवल इतनी है कि पुराने समय की केवल शांति-रक्षा का प्रयत्न करने वाली स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली के वातावरण के अनुकूल जिन मनोवृत्तियों का विकास हुआ है उनके स्थान पर अब कुछ अन्य मनोवृत्तियों को महत्व देना है जो आधुनिक युग की अधिक कर्मण्य शासन-व्यवस्था के अनुकूल और उपयुक्त हैं।

दूसरा अध्याय

लोकतंत्र और साम्प्रदायिकता

राष्ट्रीय आन्दोलन

सन् १८५७ ई० के ग़दर के दमन के साथ ही पश्चिमी सुधारवाद के सम्पर्क के फल-स्वरूप भारतीय राजनीति में एक नई धारा का प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्रता की आकांक्षा सभी जातियों में स्वाभाविक होती है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस आकांक्षा के फल-स्वरूप भारत में यह आन्दोलन उठा कि देश के शासन में जनता के प्रतिनिधियों का भी हाथ रहना चाहिए। और उसने शीघ्र ही फैलकर स्वराज्य आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। सन् १८८५ में इंडिअन नेशनल कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) की स्थापना हुई और सन् १८९२ में और फिर १९०९ में शासन-प्रणाली में कुछ सुधार हुए। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस बात के आसार दिखाई पड़ने लगे थे कि भारतीयों को सरकारी नौकरियों में ही नहीं, शासन-नीति निर्धारित करने में भी अधिकाधिक भाग मिलेगा। लार्ड कर्ज़न (१८९८-१९०५) के शासनकाल में बंग-भंग के फल-स्वरूप जो उत्तेजना फैली उससे प्रगति में और भी तेज़ी आ गई। अब लोकतन्त्र की स्थापना दूर की सम्भावना नहीं, बल्कि निकट की वास्तविकता मालूम होने लगी।

लोकतंत्र शासन की कठिनाइयाँ

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन स्वराज्य आन्दोलन में परिणत हो गया और इसने लोकतन्त्र के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया ;

नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई और उन्हें हल करने के लिए नये परिवर्तनों की आवश्यकता हुई। अगर यह कथन सत्य है कि शासन-कला और सब कलाओं से कठिन है, तो यह भी उतना ही सत्य है कि स्वराज्य की शासन-प्रणाली दूसरी सब शासन-प्रणालियों की अपेक्षा कठिन है। स्वराज्य का आधार है साधारण जनता की जानकारी, समझदारी, ईमानदारी और लोक-सेवा की भावना। परन्तु अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उसे इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि साधारण जनता शासन-सम्बन्धी बातों में उदासीन होती है और इससे लाभ उठाकर कुछ थोड़े से उत्साही और कार्यशील व्यक्ति जनता को भुलावे में डालकर उससे इच्छानुसार अपने मत का समर्थन करा सकते हैं। स्वराज्य की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता में कम से कम इतनी एकरूपता हो कि आवश्यक बातों में मतैक्य हो सके, परन्तु यह डर भी रहता है कि कोई राजनीतिक दल अनावश्यक बातों को आवश्यक न घोषित करने लगे। स्वराज्य का आधार व्यक्तित्व के प्रति विश्वास है, यानी यह विश्वास कि उचित अवसर और सुविधा मिलने पर मनुष्य अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकने के योग्य बन सकता है, परन्तु सम्प्रदाय या वर्ग का भेद इस विश्वास के विकास में बाधक हो सकता है। स्वराज्य की सफलता के लिए समझदार और निस्स्वार्थ नेताओं का होना आवश्यक है, परन्तु नेतृत्व किन के हाथ में आवेगा, यह बहु-संख्यक उदासीन और अल्प-संख्यक सजग लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध की पेचीदा बातों पर निर्भर रहता है। और बहुत सी बातों की तरह नेता भी देश की सामाजिक अवस्था के तदनुरूप ही होता है। लोकतन्त्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि साधारण जनता में शिक्षा, चरित्रबल और सहयोग की आदत हो, परन्तु स्वेच्छाचारी शासन-प्रणाली में बहुत दिन रहने के कारण लोगों की पहले से जो आदतें पड़ चुकी होती हैं उन्हें बदलने में प्रारम्भिक दिनों में कठिनाई होती है।

नवीन आदर्शों की स्थापना में विलम्ब

यूरोप में जब नरेशों के स्वेच्छाचार का अंत होकर लोकमत के अनुसार चलने वाली शासन-प्रणाली की स्थापना हुई, तो इस परिवर्तन के साथ ही शासन के आदर्शों में भी परिवर्तन हो गया। पुराना आदर्श केवल रक्षात्मक था। सरकार का कर्तव्य यही समझा जाता था कि वह देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा करे, देश के अंदर शांति की रक्षा करे, और सेना तथा पुलिस के अतिरिक्त न्याय करने के लिए अदालतें भी रक्खें। शासन का नया आदर्श यह था कि सरकार जनता में शिक्षा का प्रचार करने, उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने और उसके स्वास्थ्य की व्यवस्था करने आदि बातों की ओर भी सक्रिय रूप से अग्रसर हो। परन्तु भारत में शासन ने रक्षात्मक के बजाय सुधारात्मक रूप धारण करने में बड़ा विलम्ब किया। १८६२, १९०६, १९१९ और १९३५ के शासन-सुधारों पर विचार करने से मालूम होगा कि स्वराज्य की ओर प्रगति भी धीमी चाल से हुई और जनता को मिलने वाले अधिकारों के उपयोग में भाग ले सकने वाले लोगों यानी वोटरों की संख्या भी बड़ी मन्द गति से बढ़ी। और इन शासन-सुधारों के बीच-बीच में जो समय मिला उसका नये प्रयोगों के उपयुक्त भूमि तैयार करने के लिए उपयोग नहीं किया गया। उन्नीसवीं सदी के पिछले भाग में यूरोप और अमरीका में यह स्वीकार कर लिया गया था कि प्रारम्भिक शिक्षा का अनिवार्य रूप से प्रचार करना सरकार का कर्तव्य है, परन्तु भारत में सरकार रुपये की कमी की ही दलील पेश करती रही और १० प्रतिशत से भी कम लोगों को साक्षर बना कर संतुष्ट हो गई। मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि वह जिन बातों को भी देखता है उनके सम्बन्ध में भला या बुरा निर्णय देना चाहता है। अगर उसे अपने समय के अनुकूल शिक्षा नहीं मिली है तो वह पहले से चली आने वाली

धारणाओं के अनुसार ही अपना मत स्थिर करेगा। भाषण-शक्ति रखने वाले वक्ता लोग अशिक्षितों को आसानी से भुलावे में भी डाल सकते हैं और आपस में लड़ा भी सकते हैं। भारत की जनता ने अपने पूर्वजों से उच्च कोटि की संस्कृति विरासत में पाई है, उसमें समझदारी और ईमानदारी भी है, और वह जीवन में आपसी सहयोग तथा सहायता के महत्व को भी समझती है। परन्तु निरक्षरता ने उसके मस्तिष्क को एक तंग दायरे में क़ैद करके कूप-मंडूक बना रक्खा है और उस पर साम्प्रदायिक तथा अन्य प्रचारकों का बड़ी आसानी से प्रभाव पड़ सकता है।

आर्थिक स्थिति

यूरोप में लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना जिस समय हुई उसी समय उद्योग-धन्धों तथा आमद-रफ़्त के साधनों में विज्ञान की सहायता से होने वाले परिवर्तनों के फल-स्वरूप लोगों की आर्थिक अवस्था में इतना सुधार हुआ कि उनका रहन-सहन का ढंग पहले की बनिस्बत चौगुना-पँचगुना अच्छा हो गया। परन्तु भारत में खेती के नये ढंग के औज़ारों का प्रचार करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया गया, थोड़े से नगरों में बस थोड़े से कल-कारख़ाने क़ायम हुए, साधारण जनता निर्धनता के भार से दबी रही, बहुत से लोग जीने और मरने के बीच की हालत में ज़िंदगी बसर करते रहे, राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति ५०-६० रुपये सालाना से भी कमर ही। निर्धनता के कारण सामाजिक जीवन निम्न कोटि का बना रहा और साधारण जनता में देश के राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक जीवन में अपना उचित भाग लेने की अभिलाषा उत्पन्न नहीं हो सकी।

देश की रक्षा में नाकाफ़ी हिस्सा

किसी भी देश में स्वराज्य की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी रक्षा कर सकने की शक्ति रखता हो। परन्तु एक पीढ़ी

पहले तक भारत की रक्षा का भार ब्रिटेन की जल-सेना, ब्रिटिश सैनिकों की एक छोटी सी स्थल-सेना और भारतीय सैनिकों की इससे कुछ बड़ी स्थल-सेना पर था। इस भारतीय सेना के भी बड़े अफ़सर सब अंग्रेज़ ही होते थे। साधारण सैनिकों की भर्ती के सम्बन्ध में भी हिन्दुस्तानियों को जवाँमर्द और ना-जवाँमर्द नाम की दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया था। इस विभाजन का अंत अभी सन् १६३६ में प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध की आवश्यकताओं के फल-स्वरूप प्रारम्भ हुआ है। इसके सिवाय देश की रक्षा कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिए जिस आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना का जाग्रत होना आवश्यक होता है, उसका विकास कर सकने का भी अभी भारतवासियों को अवसर नहीं मिला है।

लोकतंत्र की विचित्रता

ये सब बातें स्वराज्य के विरोध में दलील के तौर पर पेश की जा सकती हैं और की भी गई हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह दलील भी दी जा सकती है कि जिस शासन-व्यवस्था के फल-स्वरूप यह परिस्थिति उत्पन्न हुई है उसमें आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। यही लोकतंत्र की विचित्रता है जो इतिहास में अनेक देशों में प्रकट हुई है। उसकी सफलता के लिए जिन बातों का होना आवश्यक है, उन्हें केवल वही ला भी सकती है। यहाँ कार्य और कारण के बीच अन्योन्याश्रय वाला सम्बन्ध है। पुराने समय से चली आने वाली निरक्षरता, निर्धनता और आत्म-रक्षा सम्बन्धी असमर्थता स्वराज्य की स्थापना में भारी बाधाएँ भी हैं, साथ ही वे स्वराज्य की स्थापना के पक्ष में प्रबल तर्क भी हैं, क्योंकि इन बुराइयों का अंत स्वराज्य के द्वारा ही हो सकता है। स्वराज्य की स्थापना तो आवश्यक है ही, साथ ही निरक्षरता तथा निर्धनता पर भी वार करना आवश्यक है।

सामंतशाही शासन की अव्यावहारिकता

इतिहास में इस बात के दृष्टांत मिल सकते हैं कि राजा के स्वेच्छा-चारी शासन और लोकतंत्र की स्थापना के बीच सामंतशाही शासन-प्रणाली रही है। भारत-सरकार किसी हद तक ब्रिटेन के इतिहास से और किसी हद तक सुधार की गति को धीमी रखने की की इच्छा से प्रभावित होकर कौंसिलों में ज़मींदारों को अधिक स्थान देकर इस प्रणाली की परीक्षा कर चुकी है। परन्तु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया कि इन ज़मींदारों में नेतृत्व के आवश्यक गुणों का अभाव है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब एक योग्य और कार्यकुशल नौकरशाही ने सारी शासन-शक्ति अपने हाथों में ले ली तो ज़मींदारों की स्थिति यह हो गई कि उनके पास जागीरें तो थीं परन्तु उनके सम्बन्ध में करना कुछ नहीं था। ब्रिटेन के सामंत या ज़मींदार दो सौ बरस तक अपने देश का शासन-भार वहन कर सके, इसका कारण यही था कि उनमें इस कार्य को करने की योग्यता थी। परन्तु भारत-सरकार ने जिस समय यहाँ के ज़मींदारों के सहयोग की ज़रूरत महसूस की उसके पहले के समय में उन्हें उन गुणों का विकास करने का अवसर नहीं मिला था जिनकी सार्वजनिक जीवन में आवश्यकता होती है। उच्च शिक्षा की नवीन सुविधाओं से ज़मींदारों ने बहुत कम लाभ उठाया था। उत्तरी भारत में ज़मींदारी की प्रथा जिस रूप में प्रचलित थी उसमें काश्तकार को भारी बोझा सहन करना पड़ता था। इसके कारण किसानों में ज़मीं-दारों के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न हो गई थी और इसलिए ज़मीं-दार राष्ट्रीय नेता नहीं बन सकते थे। ज़मींदार भी अपने वर्ग के हितों की रक्षा करने के लिए अपनी सभाएँ क़ायम करके संतुष्ट हो गये। कुछ लोग यहाँ के ज़मींदारों की ब्रिटेन की कंज़र्वेटिव पार्टी (रूढ़िवादी दल) से तुलना किया करते हैं। अगर रूढ़िवाद का आधार पुरानी परम्पराओं

के प्रति सम्मान तथा आगे के लिए धीरे-धीरे सुधार की भावना हो, तो रूढ़िवादियों का शीघ्र गति से उन्नति चाहने वाले प्रगतिवादियों के विरोध में एक राजनीतिक दल बन सकता है और उसके साथ वह भी शासन-शक्ति का उपयोग करने का अवसर पा सकता है। ब्रिटेन में अकसर प्रगतिवादियों और रूढ़वादियों ने बारी-बारी से मंत्रिमंडल बना कर शासन-शक्ति का उपभोग किया है। परन्तु किसी वर्ग विशेष की अपने विशेषाधिकारों की रक्षार्थ बनाई गई सभा कभी सच्चे मानी में राजनीतिक दल नहीं बन सकती। अगर किसी उपाय से उसे राजनीतिक शक्ति अपने अधिकार में कर लेने में सफलता भी मिल जाय, तो इसका परिणाम यही होगा कि राज्यक्रान्ति के लिए रास्ता साफ़ हो जायगा।

व्यावसायिक सम्पत्ति की कमी

आधुनिक युग में कहीं-कहीं सामंतों (ज़मींदारों और जागीरदारों) ने धनी व्यवसायियों से संधि करके भी अपना बल बढ़ाया है। परन्तु भारत में वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक तक बड़े उद्योग-धन्धों की इतनी कम उन्नति हो पाई थी कि धनी व्यवसायियों या पूँजीपतियों का कोई बड़ा समुदाय ही नहीं बन पाया था जिसके साथ भारत के ज़मींदार संधि करके अपना बल बढ़ा सकते।

शिक्षित मध्य वर्ग

इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में शिक्षित मध्य वर्ग का आधिपत्य रहा। इस वर्ग में ऐसे लोग थे जिनके पास समय, महत्वाकांक्षा, बुद्धि-बल, ग्रहणशीलता तथा दृष्टिकोण की उदारता, आदि सभी आवश्यक बातें थीं। अभी उसकी संख्या बहुत कम थी—अंग्रेज़ी शिक्षा अभी बीस लाख व्यक्तियों तक भी नहीं पहुँच पाई थी—और, जैसा कि सन् १९१८ के बाद की घटनाओं से प्रमाणित हुआ, महान नेताओं के लिए यह

भी सम्भव था कि वे इस वर्ग की उपेक्षा करके सीधे साधारण जनता तक पहुँच सकें। फिर भी शिक्षित वर्ग की संख्या बढ़ रही थी और, अगर शिक्षा का प्रचार तेज़ी से बढ़ाया जाता तो, वह सार्वजनिक जीवन में बड़ी महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेता। उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोगों में अपने को साधारण जनता से भिन्न समझने की मनोवृत्ति थोड़ी बहुत सभी जगह पाई जाती है, भारत में शिक्षा का माध्यम एक विदेशी भाषा होने के कारण यह प्रवृत्ति और भी अधिक है। परन्तु दूसरी ओर जाति-पाँति और धर्म के बंधन तथा देशभक्ति की भावना के कारण वे अपने समाज से बाहर जाना भी नहीं चाहते। आर्थिक दृष्टि से शिक्षित वर्ग में सम्पन्नता और निर्धनता की अनेक श्रेणियाँ हैं। देश में बड़े उद्योग-धन्धों के अभाव के कारण शिक्षित वर्ग प्रायः सरकारी नौकरी, डाक्टरी वकालत, आदि पर ही निर्भर करता है। इस प्रकार उसकी स्थिति में एक विरोधाभास दिखाई पड़ता है—वह जिस व्यवस्था को बदलना चाहता है, उसी पर वह अपनी रोज़ी के लिए अवलम्बित है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में उसके सम्मुख अच्छी नौकरी पा जाने की आशा-जनक सम्भावनाएँ थीं, परन्तु जितनी शीघ्रता से उसकी संख्या बढ़ी उतनी शीघ्रता से नौकरियों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। फलतः शिक्षित वर्ग में बेकारी भयंकर रूप से बढ़ी और शिक्षित युवकों का भविष्य बहुधा अंधकारपूर्ण हो गया। इसी आर्थिक स्थिति का एक पहलू यह भी है कि सरकारी नौकरियों के लिए जो छीना-झपटी मची उनमें साम्प्रदायिक प्रश्न भी आ मिला और इसके कारण हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों में बिगाड़ की मात्रा और बढ़ गई।

शिक्षा-प्रणाली की त्रुटियाँ

शिक्षा सम्बन्धी जिन नये विचारों और प्रयोगों ने यूरोप और अमरीका में विद्यालय की कायापलट कर दी है, भारत की शिक्षा-प्रणाली

उनके साथ-साथ नहीं चल सकी है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली ने मनो-विज्ञान से समुचित लाभ नहीं उठाया। थोड़े ही समय पहले तक उच्च शिक्षा में साहित्य का तो बड़ा महत्व था और भौतिक-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान का बहुत कम। इसलिए उसका विद्यार्थी के स्वभाव तथा मानसिक गठन पर जैसा चाहिए वैसा प्रभाव नहीं पड़ता था। अंग्रेज़ी के सिवाय अन्य विदेशी भाषाओं के ज्ञान का अभाव भी आधुनिक विचार-धाराओं तथा आन्दोलनों, और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों, का पूरा-पूरा रहस्य समझने में बाधक होता था। परन्तु शिक्षित भारत ने विदेश-यात्रा के द्वारा किसी हद तक इस त्रुटि को दूर कर लिया है और संसार सम्बन्धी उस नाजानकारी से भी मुक्ति पा ली है जो कि ग्यारहवीं और उन्नीसवीं सदियों के बीच होने वाली भारत की पराजयों का मुख्य कारण थी। शिक्षित भारतीय वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में यह समझने लग गया था कि पुनरुत्थानवाद की शक्ति क्षीण हो रही है, स्वराज्य निकट आ रहा है, भूतकाल का वास्तविक अथवा काल्पनिक सतयुग भविष्य की वास्तविकता में परिणत किया जा सकता है, और विभिन्न सम्प्रदायों के बीच की खाई को पाटने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता है। यह उसने पहले ही समझ लिया था कि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध है और इसलिए कांग्रेस के साथ उसने समाज-सुधार सम्मेलन और औद्योगिक सम्मेलन भी जोड़ दिये। शिक्षित वर्ग ने साधारण जनता में शिक्षा का प्रचार करने की आवश्यकता भी समझ ली थी। जब १६११ ई० में गोपाल कृष्ण गोखले ने भारत की बड़ी कौंसिल में प्रारम्भिक शिक्षा को निश्शुल्क और अनिवार्य कर देने के लिए बिल पेश किया तो शिक्षित वर्ग ने उसका बड़े उत्साह से समर्थन किया। अगर यह बिल पास हो जाता तो अब तक भारतीय जीवन में भारी कायापलट हो गई होती, और अगर बिल सरकारी सदस्यों के विरोध के कारण पास

न हो सका तो इसमें दोष भारत के शिक्षित वर्ग का नहीं था।

नये कार्य-भार और बाधाएँ

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में शिक्षित मध्य वर्ग को शासन की ज़िम्मेदारी को बँटाने का अवसर मिला और तब उसके सामने देश की राजनीति में एक नया सामंजस्य स्थापित करने का सवाल आया। पुनरुत्थानवाद के फल-स्वरूप उत्पन्न परिस्थिति के कुछ पहलू बड़े बाधक सिद्ध हुए। मुसलमान बहुत समय तक अंग्रेज़ी शिक्षा से दूर रहे थे और सर सैयद अहमद के आंदोलन के बाद भी उन्होंने इस कमी को अंशतः ही पूरा किया था। राष्ट्रीय आंदोलन के फल-स्वरूप जो ज़िम्मे-दारियाँ अंग्रेज़ों के हाथों से भारतीयों के हाथों में आ रही थीं, उनमें वाजिबी हिस्सा ले सकने की उन (मुसलमानों) से आशा नहीं की जा सकती थी। फिर से देश में मुसलिम शासन स्थापित करने के स्वप्न को पुनरुत्थानवादियों ने बहुत समय तक जारी रक्खा था, परन्तु अब उसके पूरा हो सकने की कोई संभावना नहीं रह गई थी। दूसरी ओर स्वराज्य आंदोलन का अर्थ था बहुमत का शासन, और इसलिए हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों की अपेक्षा अधिक होने के कारण, कुछ लोगों को हिंदू राज्य की सम्भावना दिखाई पड़ सकती थी। स्वयं सर सैयद अहमद ख़ाँ ने अपने सहधर्मियों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी थी। कांग्रेस में थोड़े-बहुत मुसलमान तो सदा रहे हैं, परन्तु सन् १६१६-१६२२ के थोड़े से समय को छोड़कर वह हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों की भी प्रतिनिधि संस्था कभी नहीं रही है। सन् १६०५ के बंग-भंग के के पश्चात् राष्ट्रीय आंदोलन की एक शाखा ने श्रीमद्भगवद्गीता का आश्रय लिया और श्रीकृष्ण की आत्मा और मुक्ति का ज्ञान प्राप्त करके निस्स्वार्थ भाव से कार्य करने की शिक्षा को अपना आदर्श बनाया। यह हिंदू दर्शनशास्त्रों का सार था। महाराष्ट्र के कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने

शिवाजी की जीवन-गाथा तथा सत्रहवीं शताब्दी के महाराष्ट्र के अभ्युदय से प्रेरणा प्राप्त की। राष्ट्रीय आंदोलन में इस प्रकार हिंदू पुनरुत्थानवाद की छाप लगने से मुसलमानों का उसकी छत्रछाया की ओर आकृष्ट न होना आश्चर्य की बात नहीं थी।

मुसलमानों का रुख़

दूसरी ओर यह भी बात थी कि राष्ट्रीय आंदोलन की आंशिक सफलता के फल-स्वरूप मुसलमानों को अपने लिए एक स्पष्ट तथा निश्चित नीति निर्धारित करने की आवश्यकता महसूस हो रही थी। जो हालत पैदा हो गई थी उसमें उन्होंने यह माँग पेश करना ठीक समझा कि उनके हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जाय और भारतवासियों को मिलने वाले शासनाधिकारों में उन्हें उनकी स्थिति, महत्व तथा आकांक्षाओं के अनुसार हिस्सा दिया जाय। उन्होंने अपने प्रतिनिधियों का चुनाव अलग से करना चाहा। सन् १९०६ में पृथक-निर्वाचन-प्रणाली स्वीकार कर ली गई और इसके फल-स्वरूप पारस्परिक विरोध की भावना को और भी प्रोत्साहन मिला।

निश्चिन्तता की खोज

इस सब की जड़ में निश्चिन्तता की खोज है जो राजनीति का एक मूल प्रश्न है। व्यक्ति और कुटुम्ब अपने लिए भोजन, वस्त्र और घर के सम्बन्ध में निश्चिन्तता चाहते थे और इसी के फल-स्वरूप राष्ट्र या राज्य का जन्म हुआ। राष्ट्रों की निश्चिन्तता की खोज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक विशेष समस्या है। किसी देश की आन्तरिक राजनीति का एक बड़ा भाग उसके विभिन्न समुदायों की आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक निश्चिन्तता की खोज का ही परिणाम होता है। इसकी प्राप्ति का उपाय है राजनीतिक शक्ति का उपभोग या उसका बँटवारा। इसलिए

राजनीतिक शक्ति के द्वारा निश्चिन्तता की प्राप्ति का प्रयत्न राजनीति का एक मुख्य अंग है। राजनीति में बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि यह निश्चिन्तता किस रूप में प्रदान की जाती है और राजनीतिक शक्ति का उपयोग किस प्रकार किया जाता है। जिन संस्थाओं के द्वारा सब को अपने हितों की रक्षा के सम्बन्ध में निश्चिन्तता की प्राप्ति होती हो तथा सब को मिल कर राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने का अवसर मिलता हो, उनसे लोकमत की शक्ति बढ़ती है और लोगों में सार्वजनिक हित की निस्स्वार्थ भावना का विकास होता है। यदि विभिन्न समुदाय अपने-अपने लिए अलग-अलग निश्चिन्तता तथा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो इससे उनके बीच संघर्ष की वृद्धि होती है।

ग्रीस का एक उदाहरण

स्वराज्य की स्थापना के समय कभी-कभी यह देखा गया है कि जनता में एकता का अभाव है और उसके विभिन्न समुदाय परस्पर-विरोधी मार्गों से निश्चिन्तता की प्राप्ति का उपाय कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में राजनीतिज्ञों का पहला कार्य यह रहा है कि उन परस्पर-विरोधी मार्गों को एक मार्ग में परिणत कर दिया जाय। उदाहरणतः एथिन्स (ग्रीस) के राजनीतिज्ञ क्लीसथैनीज़ ने ई० पू० छठी शताब्दी में देखा कि धनी कुटुम्बों और पहाड़ियों, मैदानों तथा सागर-तट के लोगों के झगड़ों के कारण लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में बाधा उपस्थित हो रही थी। उसने राजनीतिक क्षेत्र में उनका नये ढंग से वर्गीकरण करके उन्हें इस बात के लिए राज़ी किया कि वे मिल कर काम करें जिसका नतीजा यह हुआ कि वे अपने झगड़ों को भूल गये और उनमें राजनीतिक एकता आ गई।

एकता और विभिन्नता

अगर देश में ऐसे धार्मिक अथवा सामाजिक समुदाय हैं जो मिल कर एक नहीं हो पाये हैं तो राजनीति में इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा। परन्तु इस विभिन्नता की नींव पर राजनीतिक महल खड़ा करना और निश्चिन्तता तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के प्रयत्नों में पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहन प्रदान करना ख़तरे की बात है। निर्माणात्मक राजनीति का कार्य तो यह है कि वह पारस्परिक सहयोग के नवीन मार्ग खोल दे और विभिन्नताओं के बीच सामंजस्य स्थापित कर दे। सन् १९०६ में मुसलिम लीग की स्थापना के समय मुसलमानों को यह आशंका थी कि हिन्दू और मुसलिम जनता यदि मिलकर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेगी तो मुसलिम उम्मीदवारों के साथ न्याय न हो सकेगा। संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली के भीतर ही इस आशंका को दूर करने का उपाय इसके पहले ही निकल आया था और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, स्विटज़रलैंड, बेलजियम, स्वीडिन, नार्वे आदि देशों के चुनावों में उसका उपयोग भी हो रहा था। यह उपाय 'प्रपोर्शनल रिप्रेज़ेंटेशन' (आनुपातिक प्रतिनिधित्व) कहलाता है और भारत में भी अल्प-संख्यक समुदायों की आशंका को निर्मूल करने के लिए इसका उपयोग किया जा सकता था। इसके द्वारा मुसलमानों को निश्चिन्तता अथवा संरक्षण की प्राप्ति हो जाती और साथ ही राजनीति में पारस्परिक सहयोग का मार्ग खुल जाता। दूसरा उपाय यह भी था कि मुसलमानों के प्रतिनिधियों की संख्या तो निश्चित कर दी जाती, परन्तु चुनाव सब का संयुक्त निर्वाचन के द्वारा ही होता। सन् १९०६ या १९०९ में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो राजनीतिक खाई थी, उसे पाट देना कठिन काम नहीं था। परन्तु १९०९ के शासन-विधान में मुसलमानों की आशंका को दूर करने के लिए यही ठीक समझा

गया कि उनके लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था कर दी जाय।

पृथक-निर्वाचन-प्रणाली

लार्ड मार्ले ने, जिनका नाम १६०६ के सुधारों के साथ जुड़ा हुआ है, एक बार कहा था कि जिस बात का राजनीति में गहरा असर पड़ता है उसका सभी क्षेत्रों में गहरा असर पड़ेगा। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के फल-स्वरूप भेदभाव को बढ़ाने वाली शक्तियों तथा प्रवृत्तियों को बल मिला। धार्मिक पुनरुत्थानवाद का अब राजनीतिक पहलू भी तैयार हो गया। संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली से आधुनिकता की शक्तियों का बल बढ़ता और राष्ट्रीय उन्नति में सहायता मिलती। परन्तु हुआ यह कि पुनरुत्थानवाद और पृथक निर्वाचन को एक दूसरे से बल मिला और जीवन के सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी क्षेत्रों में पृथक्करण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। इसके परिणाम बड़े खेद-जनक हुए और एक दुःखांत नाटक के घटनाक्रम की भाँति एक एक करके देश के सम्मुख आये। अगले ही वर्ष प्रयाग में हिन्दुओं की एक सभा हुई और उसमें अखिल-भारतीय हिन्दू सभा की स्थापना का निश्चय हुआ। लोगों में हिन्दुओं और मुसलमानों को दो विभिन्न राज-नीतिक समुदाय मानने की आदत चल निकली। मुसलमानों को अपनी संख्या के अनुपात से कुछ अधिक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार अवश्य मिल गया था, परन्तु इससे उन्हें जितना लाभ हुआ उससे अधिक हानि इस बात से हुई कि अब हिन्दू उम्मीदवारों को मुसलमान वोटरों से वोट नहीं माँगने थे और इसलिए उन्हें प्रसन्न या संतुष्ट रखने की आवश्य-कता नहीं थी। पृथक निर्वाचन के कारण दोनों ही समुदायों के लिए यह बात और भी कठिन हो गई कि वे अपने हिताहित को राष्ट्र के हिता-हित से एक कर दें। इसने उस नियंत्रण को ढीला कर दिया जिसे सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखते हुए अपने समुदाय की इच्छाओं और

माँगों पर रखना सब के लिए अभीष्ट होता है। इससे साम्प्रदायिक मत से भिन्न लोकमत के विकास में बाधा उपस्थित हुई। जब प्रतिनिधियों के निर्वाचन में सहयोग के लिए स्थान नहीं रह गया तो फिर कौंसिलों तथा सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग अधिकाधिक कठिन होता गया। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली ने जो विष बोया था वह फैलता ही गया। सन् १९१६ में यह कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच होने वाले समझौते को रोक तो नहीं सका, परन्तु हाँ, इसके कारण उसमें कठिनाई बहुत हुई। हिन्दू निर्वाचन-क्षेत्रों में प्रायः राष्ट्रीयतावादियों की ही विजय होती रही, परन्तु इसका कारण यही था कि अल्प-संख्यक समुदाय की अपेक्षा बहु-संख्यक समुदाय के लिए राष्ट्रीयता को ग्रहण करना कुछ सहज होता है। परन्तु हिन्दू निर्वाचन-क्षेत्रों से निर्वाचित होने वाले राष्ट्रीयतावादी लोगों को भी हिंदुओं की कुछ भावनाओं का ध्यान रखना पड़ता था, और इसके सिवाय राष्ट्रवादियों के साथ ही थोड़े-बहुत सम्प्रदायवादी भी निर्वाचित हो ही जाते थे। मुसलिम निर्वाचन-क्षेत्रों में सदा यह पुकार सुनाई देती थी कि हमारा धर्म, हमारी संस्कृति संकट में हैं और उनके संरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में कुछ हिंदुओं में यह आवाज़ ज़ोर पकड़ने लगी कि हिन्दुओं के अधिकार ख़तरे में हैं, कांग्रेस मुसलमानों का पक्ष करती है, और मुसलिम लीग के साथ समझौता करना उसके सामने आत्मसमर्पण कर देना होगा। अगर आदमी सदा अपनी रक्षा की ही बात सोचता रहे तो थोड़े-बहुत समय में वह आक्रमण करने की भी बात सोचने लगता है और जो बात व्यक्तियों के लिए लागू है वह समुदायों के लिए भी उतनी ही ठीक है। ज्यों-ज्यों पृथक निर्वाचन का प्रभाव स्थायी होता गया त्यों-त्यों विभिन्नता की भावना भी बढ़ती गई। सामाजिक न्याय का आदर्श तो पिछड़ गया, अपने-अपने समुदाय के लिए विशेषाधिकार प्राप्त करने की आकांक्षा बलवती होती गई।

असहयोग और ख़िलाफ़त

पिछले महायुद्ध के बाद की घटनाओं ने पृथक निर्वाचन के परिणामों को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया। महायुद्ध के बाद एक आदर्शवाद की लहर आई, तुर्क साम्राज्य का अंग-भंग होने के कारण मुसलमानों में नाराज़ी फैली, तुर्क लोग एशियाई होने के नाते हिन्दुओं को भी उनके साथ सहानुभूति थी, पंजाब में फ़ौजी शासन के समय की घटनाओं से हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ही को नाराज़ी हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच १९१९-२२ में बड़ा आश्चर्यजनक ऐक्य दिखाई दिया। इस ऐक्य की एक उल्लेखनीय बात यह थी कि असहयोग के कार्यक्रम में और बातों के सिवाय एक बात यह भी थी कि सन् १९१९ में जारी होने वाली मान्टेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार-व्यवस्था के अनुसार बनने वाली कौंसिलों का वहिष्कार किया जाय। इस वहिष्कार में पृथक निर्वाचनक्षेत्रों का वहिष्कार भी शामिल था। महात्मा गांधी और ख़िलाफ़त आन्दोलन के नेताओं ने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों में, जिन्हें या तो अभी वोट देने का अधिकार मिला नहीं था या जिन्होंने उसका इस बार उपयोग नहीं किया था, नई राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न कर दी। नये सुधारों में जिन लोगों को पहली बार वोट देने का अधिकार मिला था उनमें छोटे-छोटे ज़मींदार, किसान, दूकानदार और अच्छी मज़दूरी पाने वाले मज़दूर थे। राजनीति में जो महत्वपूर्ण स्थान अब तक शिक्षित वर्ग का था, अब वह निम्न मध्य वर्ग का हो गया। अब तक नेतृत्व पाने के लिए शिक्षित वर्ग का समर्थन काफ़ी होता था, अब निम्न मध्य वर्ग का, जो संख्या में उससे अधिक था, समर्थन प्राप्त करना आवश्यक हो गया। राजनीतिक जाग्रति का यह विस्तार एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसके परिणाम-स्वरूप सार्वजनिक जीवन में कायापलट जैसे परिवर्तन हो गये।

जो लोग अपने राजनीतिक विश्वासों अथवा अब तक की आदतों के कारण अपने को इस नवीन परिस्थिति के अनुकूल नहीं बना सकते थे उन्हें या तो अपने छोटे-छोटे राजनीतिक दल बना लेने पड़े, या कार्य-कर्त्ता के बजाय परामर्शदाता का स्थान ग्रहण करना पड़ा और या सार्वजनिक जीवन से बिलकुल हट ही जाना पड़ा। शिक्षित वर्ग के बाक़ी लोगों ने उन नीतियों को ग्रहण कर लिया जो बड़े-बड़े नेताओं ने साधारण जनता को दृष्टि में रख कर स्थिर की थीं। भारी-भारी सार्वजनिक सभाएँ लोकमत की घोषणा करती रहीं और उनके उत्साह के कारण नेताओं में कुछ स्वेच्छाचारिता भी आ गई। महात्मा गांधी के अनुयायी तो प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक समुदाय में थे और देश से बाहर भी उनको श्रद्धांजलियाँ भेंट हो रही थीं, जिससे उनकी स्थिति और भी सुदृढ़ होती जा रही थी।

राजनीतिक अपरिपक्वता

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र के ये नवागंतुक अपरिपक्व थे। बहुत समय से उन्हें पराधीनता में रहने और छोटी-छोटी बातों तक ही अपनी दिलचस्पी को महदूद रखने की आदत पड़ी हुई थी। राजनीतिक अपरि-पक्वता के दो ख़ास लक्षण ये हैं—अपनी राजनीतिक ज़िम्मेदारियों को पूरी तरह महसूस न करना और नेताओं की आज्ञाओं को चुपचाप शिरोधार्य कर लेना। ये दोनों लक्षण अनेक राष्ट्रों और जातियों के लोगों में पाये गये हैं और इटली, जर्मनी और जापान के आधुमिक इतिहास में तो बड़े ही स्पष्ट अक्षरों में चमक रहे हैं। थोड़ी-बहुत मात्रा में तो ये सभी देशों के साधारण लोगों में पाये जाते हैं। राजनीतिक परिपक्वता तो राजनीतिक शिक्षा अथवा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लंबे अनुभव से ही आती है। १९१८ के बाद भारत में जिस विशाल समुदाय ने पहली बार राजनीति में दिलचस्पी लेना शुरू किया था उसके

लिए तत्काल राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता थी। परन्तु शिक्षा की व्यवस्था न तो सरकार ने ही की और न तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं ने ही। सरकार तो नौकरशाही ठहरी जो जल्द ही कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। वह न तो साधारण शिक्षा को ही सब लोगों तक पहुँचा सकी और न यही कर सकी कि सब जगह छोटी और बड़ी परामर्शदात्री कमेटियों का जाल बिछा कर उनके द्वारा लोगों को राजनीतिक बातों का कुछ अनुभव करा देती। राजनीतिक नेता मुख्यतः आंदोलनकर्त्ता ही थे और उनके लिए नये लोगों का राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करना प्रसन्नता का ही विषय था, क्योंकि इससे उनके आंदोलनों का बल बढ़ना निश्चित बात थी। फलतः नये लोगों को जो राजनीतिक शिक्षा मिली उसका सम्बन्ध आंदोलन के ढंगों से अधिक था, उनकी ज़िम्मेदारियों से कम। राजनीति में भाग लेने वाले लोगों की संख्या जितनी बढ़ती है, नेताओं के लिए उन तक अपना संदेश पहुँचा सकना उतना ही सुगम हो जाता है।

राजनीति में अध्यात्म

महात्मा गांधी ने राजनीति में अध्यात्म का पुट दिया और मालूम होता है कि स्वयं उन पर भी अध्यात्म का रंग अधिकाधिक चढ़ता गया है। इससे हिन्दू जनता उनकी राजनीति की ओर आकर्षित ही नहीं हुई, वह जैसे मन्त्र-मुग्ध सी हो गई। महात्मा गांधी अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए अन्य धर्मों के प्रति उदार भाव तो रखते ही हैं, वे उनकी अच्छी बातों को ग्रहण करने को भी तैयार रहते हैं। उन्होंने रसूल पाक और क़ुरान शरीफ़ की अनेक बार बड़ी प्रशंसा की है। "मेरे सत्य के प्रयोग" नाम की अपनी आत्मकथा में उन्होंने यह भी बताया है कि ईसाई धर्म का, विशेषकर काउन्ट टाल्सटाय के द्वारा, उनपर कितना प्रभाव पड़ा है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि गांधीजी के अध्यात्म का मुख्य आधार

हिन्दू धर्म और जैन आचारशास्त्र हैं। अधिकारी विद्वानों का मत है कि सरल जीवन और चर्खे के आदर्शों में कोई बात ऐसी नहीं है जो इसलाम के प्रतिकूल हो। लेकिन बावजूद इसके इन आदर्शों का हिंदू धर्म से ही कुछ रहस्यमय सम्बन्ध प्रतीत होता है। कम से कम इनकी बाबत यह तो कहा ही जा सकता है कि ये हिन्दू पुनरुत्थानवाद के अंतर्गत ठीक बैठ जाते हैं और इसलिए राजनीति में हिन्दुओं और अहिन्दुओं को एक दूसरे से अलग करने में सहायक होते हैं। अहिंसा को नीति के रूप में तो कोई भी ग्रहण कर सकता है, परंतु उसका सभी परिस्थितियों में मान्य धार्मिक सिद्धान्त के रूप में प्रचार करने में तो हिन्दू बल्कि जैन और बौद्ध धर्मों का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है। विरोधी के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए स्वयं ही कष्ट-सहन की बात भी कुछ ऐसी ही है। इस ऐतिहासिक घटना की ओर से आँखें बंद नहीं की जा सकतीं कि हज़रत मुहम्मद को आत्मरक्षा के लिए युद्धों में प्रवृत्त होना पड़ा था। राजनीतिक अहिंसावाद का प्रचार बढ़ा और शीघ्र ही वह समय आ गया जब महात्मा गांधी की स्थिति एक सम्प्रदाय के संस्थापक जैसी हो गई और गांधीवाद के साथ पवित्रता की भावना जुड़ गई। ख़िलाफ़त आंदोलन के कारण मुसलिम राजनीति में भी धार्मिकता का रंग पहले की अपेक्षा कुछ गहरा हो गया था पुनरुत्थानवाद की भाँति ही एक अध्यात्मवाद से दूसरे अध्यात्मवाद को प्रोत्साहन मिलता है और राजनीतिक संघर्ष में धार्मिक संघर्ष भी आ मिलता है। इस अर्थ में तो राजनीति को सदा आध्यात्मिकता की आवश्यकता रहती है कि सच्चाई, ईमानदारी, निस्स्वार्थता और मानवता के सिद्धान्तों का ध्यान रक्खा जाय। परन्तु यदि आध्यात्मिकता इस से आगे बढ़ती है तो फिर धर्म के नाम से सम्बन्धित सभी बातें राजनीति में प्रवेश करने लगती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लोग सब बातों में अपने धर्म के सिद्धांतों का पालन चाहने लगते हैं। जिस देश में एक से अधिक धर्मों के अनुयायी

रहते हों, वहाँ यह स्थिति और भी ख़तरनाक होती है। यह हो सकता है कि यदि उन्हें ठीक से समझा जाय तो सभी धर्म मनुष्य और मनुष्य के बीच एकता का उपदेश देते हैं और धर्म के नाम पर होने वाले झगड़े धर्म के विरुद्ध हैं, परन्तु इसका अधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इस दुनिया में जब सभी बातों के सम्बन्ध में ग़लतफ़हमियाँ चलती हैं तो धर्मों के ठीक से समझे जाने की ही कितनी सम्भावना हो सकती है ?

अलग-अलग रास्ते

इस प्रकार द्वैध अध्यात्मवाद ख़तरे से ख़ाली नहीं था। फिर भी अगर कांग्रेस और मुसलिम लीग कौंसिलों से असहयोग की नीति को जारी रख सकतीं, तो सम्भव था कि वे साम्प्रदायिकता से परे रहकर पारस्परिक संघर्ष से बच जातीं। परन्तु घटनाक्रम ने दोनों को वैध आंदोलन तथा कौंसिल-प्रवेश के मार्ग पर लौट आने को वाध्य किया। । पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों के साथ दो प्रकार के पुनरुत्थानवाद और दो प्रकार के अध्यात्मवाद के अस्तित्व ने राजनीतिक परिस्थिति को अत्यंत जटिल बना दिया। अब तक कांग्रेस देश की राजनीति पर अपना प्रभाव डालने और राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने भर से संतुष्ट रही थी, परन्तु १९२३ की १ली जनवरी को उसके अंदर कौंसिलों पर अधिकार करने का विचार रखने वाली स्वराज्य पार्टी बन गई। सितम्बर १९२३ में दिल्ली में होने वाले अपने विशेष अधिवेशन में कांग्रेस ने कौंसिल-प्रवेश का विरोध स्थगित कर दिया। नवम्बर १९२३ में स्वराज्य पार्टी ने कौंसिलों के चुनाव में भाग लिया और तब मालूम हुआ कि वह देश में सब से बड़ा और सब से अधिक सुसंगठित दल था। नवम्बर १९२४ में कलकत्ते में होने वाले समझौते के अनुसार स्वराज्य पार्टी कांग्रेस की पर्लीमेन्टरी शाखा बन गई और दिसम्बर १९२५ के कांग्रेस के कानपुर

गये। यह भविष्यवाणी बिना संकोच के की जा सकती है कि अगर पृथक निर्वाचन के रहते हुए सभी वयस्क (बालिग) स्त्री-पुरुषों को वोट देने का अधिकार दे दिया जाय तो प्रत्येक नगर तथा हर एक गाँव में हिन्दुओं और मुसलमानों का मनमुटाव तथा विरोध और भी बढ़ जायगा। बहुत से लोगों का यह विचार है कि जो हिन्दू और मुसलमान अभी तक राजनीतिक क्षेत्र के बाहर हैं और आपसी सद्भावना और शांति से रह रहे हैं उन्हें भी अगर वोट देने का अधिकार दे दिया जाय तो दोनों सम्प्रदायों के बीच समझौता होने में आसानी हो जायगी, परन्तु ऐसा समझना भारी भूल है। इसी भ्रान्त धारणा के आधार पर यह भी कहा जाता है कि देश के भाग्य का निर्णय करने के लिए एक विधान सम्मेलन की आयोजना होनी चाहिए और उसके प्रतिनिधियों का निर्वाचन करने में सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। वोट के अधिकार से अब तक वंचित रहने वाले लोगों को यह अधिकार मिलते ही, वे विवाद और उत्तेजना के उस वातावरण में जा पहुँचेंगे जिसे पृथक निर्वाचन ने उत्पन्न कर दिया है। यह बात भी न भुलानी चाहिए कि जिन विरोधों का नगरों में श्रीगणेश होता है वे शीघ्र ही गाँवों में भी जा पहुँचते हैं। नगरों का गाँवों पर आधिपत्य आधुनिक सभ्यता की एक विशेषता है। ब्रिटिश भारत में ९० प्रतिशत से अधिक लोग देहातों में रहते हैं, लेकिन १० प्रति सैकड़ा से कम नगर-निवासियों का उनपर भारी प्रभाव है। मताधिकार को सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों तक पहुँचा देने से यह लाभ अवश्य हो सकता है कि निम्न स्तर के लोगों में भी आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत होगी, उन्हें राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलेगा, लोकहित के कार्यों के लिए देश के सारे बुद्धि-बल और नैतिक बल का सहयोग प्राप्त हो जायगा तथा शासन सम्बन्धी मामलों की बाबत सभी वर्गों के विभिन्न दृष्टिकोणों का पता लग जायगा। परन्तु इसी लिए उस निर्वाचन-प्रणाली

से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय खोज निकालना और भी आवश्यक हो जाता है जो किसी भी देश में भीषण गृह-कलह उत्पन्न कर देने की क्षमता रखती है। और किसी भी देश के नागरिकों में राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावना उतनी विकसित नहीं हो पाई है जितनी इंगलैंड के नागरिकों में। परन्तु यदि इंगलैंड में भी कैथलिक, प्राटिस्टेन्ट, प्रेस्बीटीरिअन, नान-कन्फार्मिस्ट, आदि विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के लिए अलग-अलग निर्वाचन की प्रणाली जारी कर दी जाय तो एक पीढ़ी के अंदर घोर विरोध की भावनाएँ उत्पन्न हो जायँगी। इसी प्रणाली को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जारी कर दो और देखो कि यूरोप की सभी जातियों और राष्ट्रों से जो लोग वहाँ जाकर बसे हैं वे संसार के इस सब से महान प्रजातंत्र को शीघ्र ही अपनी रणभूमि बना लेते हैं या नहीं।

तीसरा अध्याय

राजनीति और शासन-शक्ति

टालमटूल की नीति

सन् १९१९ के भारतीय शासन-विधान के सम्बन्ध में पार्लीमेन्ट से जो कानून पास हुआ था, उसकी बाबत यह कहा गया था कि हर दसवें साल जाँच होकर शासन-विधान में संशोधन होता रहेगा। परन्तु उसके द्वारा प्रान्तों में जिस द्वैध शासन-प्रणाली की स्थापना हुई वह १९३७ तक जारी रही और केन्द्रीय शासन के लिए जो व्यवस्था की गई वह दो-तीन परिवर्तनों के साथ आज तक चल रही है। सन् १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई जिसका कार्य १९३० तक चलता रहा। फिर १९३०, १९३१ और १९३२ में लन्दन में कान्फ़रेन्सें हुईं जो राउन्ड टेबिल (या गोल मेज़) कान्फ़रेन्सें कहलाती हैं, १९३३ में ब्रिटिश मंत्रिमंडल का पार्लीमेन्टरी वाइट पेपर (श्वेत पत्र) प्रकाशित हुआ, फिर भारतीय विधान सम्बन्धी बिल पर विचार करने के लिए पार्लीमेन्टरी जौइन्ट कमेटी अर्थात् कामन्स सभा और लार्ड सभा के चुने हुए सदस्यों की संयुक्त कमेटी बनी जिसने १९३३ और १९३४ में बिल की धाराओं पर विचार करके उनमें आवश्यक हेरफेर किये। इस सब के बाद सन् १९३५ में पार्लीमेन्ट से भारतीय शासन-विधान सम्बन्धी क़ानून पास हुआ। इस पुस्तक के विषय को देखते हुए यहाँ इन बातों की सविस्तर चर्चा करना आवश्यक नहीं है। इस विधान की प्रान्तीय शासन सम्बन्धी धाराएँ सन् १९३७ में जारी कर दी गईं। केन्द्रीय शासन के सम्बन्ध में इस विधान के अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा देशी राज्यों की

फ़ैडैरल अर्थात् संघ-सरकार बनने को थी, परन्तु ऐसा हो नहीं सका। कारण यह था कि सरकार ने इस सम्बन्ध में अधिक उत्साह नहीं दिखाया, भारतीय नरेश इसके इच्छुक नहीं थे, और मुसलिम लीग तथा कांग्रेस भी इसका विरोध कर रही थीं, यद्यपि दोनों के विरोध के कारण अलग-अलग थे। न तो इंगलैंड ही में और न भारत ही में किसी व्यक्ति अथवा दल ने ऐसी राजनीतिज्ञता का परिचय नहीं दिया कि या तो इन मतभेदों के बीच सामंजस्य स्थापित करा देता और नहीं तो उन्हें अपने ही ढंग से हल कर देता। सच बात तो यह है कि सन् १६२६ से १६३६ तक ब्रिटेन में जो मंत्रिमंडल रहे उन्हें यूरोप के मामलों में ही इतनी कम सफलता हुई—न तो वे शान्ति की रक्षा करने ही में समर्थ हुए और न ब्रिटेन को सैनिक दृष्टि से ही शक्तिशाली बना सके—कि उनसे यह आशा ही नहीं की जा सकती थी कि वे छः हज़ार मील की दूरी पर स्थित भारत की समस्या को हल कर सकने योग्य समझदारी और दूर-दर्शिता का परिचय दे सकेंगे। अगर व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो मालूम होगा कि १६२६–१६३२ की आर्थिक मंदी के समय से ब्रिटिश साम्राज्य के सभी मामलों में ब्रिटिश सरकार की नीति को कहीं सफलता नहीं मिली और भारत की सभ्यता का हल न हो सकना भी इसी असफलता का अंग है।

विचित्रताएँ और कठिनाइयाँ

समस्याओं को दृढ़तापूर्वक हल करने के बजाय उन्हें चलते रहने देने की नीति के फल-स्वरूप राजनीतिक परिस्थिति में कई जटिल विचित्रताएँ उत्पन्न हो गई हैं। ब्रिटिश सरकार ने सन् १६१७ में यह घोषणा की थी कि उसकी नीति भारत में क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना है। तब से पच्चीस वर्ष से अधिक का समय बीत चुका, परन्तु अभी तक न तो पूर्ण रूप से उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना ही हो

पाई है और न वह घोषणा रद्द ही की गई है। सन् १९३० में उसने भारत के लिए संघ-सरकार क़ायम करने के पक्ष में अपना निर्णय दिया। तब से तेरह वर्ष बीत चुके, परन्तु संघ-सरकार अब भी वाद-विवाद का ही विषय बनी हुई है। महायुद्ध का प्रारम्भ होने पर तो यह टालमटूल की नीति पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब कि १९३५ के विधान की केन्द्रीय शासन सम्बन्धी धाराओं को मानो भुला ही दिया गया। यह सच है कि जुलाई १९४१ में और फिर अगस्त १९४२ में वायसराय की कार्यकारिणी समिति में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई, जिसके फल-स्वरूप आज भारत-सरकार में वायसराय को लेकर कुल १६ सदस्य हैं जिनमें ११ भारतीय सज्जन हैं। परन्तु भारत-सरकार आज भी लैजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् जनता के प्रतिनिधियों के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं है, इसलिए वास्तविक स्थिति में तो कोई अंतर नहीं पड़ा है। मार्च १९४२ में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ नये प्रस्ताव पेश किये, मार्च और अप्रैल १९४२ में भारतीय नेताओं तथा विभिन्न राजनीतिक दलों की कार्य-समितियों ने दिल्ली में इन पर विचार किया। उन्हें ये प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य नहीं मालूम हुए और ब्रिटिश सरकार ने उन्हें वापस ले लिया। इतने लम्बे समय तक राजनीतिक प्रगति रुकी रहने के परिणाम-स्वरूप अगस्त १९४२ में वे घटनाएँ घटीं जिन्हें भारत-सरकार के होम मेम्बर ने विद्रोह के नाम से पुकारा। शांति स्थापित हो जाने पर श्री राजगोपालाचार्य ने यह इच्छा प्रकट की कि वे जेल में महात्मा गांधी से मिलें और फिर इंगलैंड जा कर समझौता कराने की कोशिश करें। परन्तु सरकार ने न तो उन्हें महात्मा से मिलने की इजाज़त दी और न इंगलैंड जाने की सुविधा। १३ नवम्बर को दिल्ली से एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें कहा गया था कि "मि० राजगोपालाचार्य की मि० गांधी से मिलने की प्रार्थना पर जो निर्णय अभी हाल में किया गया था, वह

भारत-सरकार की सोच-विचार कर निर्धारित की गई नीति का द्योतक है।" १७ नवम्बर को पार्लामेन्ट में किये गये एक प्रश्न का भारत-मंत्री ने यह लिखित उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार "मि० राजगोपालाचार्य के इस देश को आने में कोई लाभ नहीं देखती।"

१० फरवरी, १९४३ से महात्मा गांधी ने तीन सप्ताह का उपवास किया। ब्रिटिश सरकार चाहती तो महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं को जेल से छोड़ देने के लिए इस अवसर का उपयोग कर सकती थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इसके कुछ ही समय बाद अमरीकन राष्ट्रपति के प्रतिनिधि मि० विलिअम फ़िलिप्स ने गांधीजी से मिलना चाहा, तो उन्हें भी मिलने की इजाज़त नहीं दी गई। इसके बाद महात्मा गांधी ने मुसलिम लीग के अध्यक्ष मि० जिन्ना को एक छोटा सा पत्र लिख कर भारत सरकार से उसे मि० जिन्ना तक पहुँचा देने की प्रार्थना की, परंतु यह प्रार्थना भी अस्वीकार कर दी गई। २६ मई को नई दिल्ली से भारत-सरकार का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें कहा गया था—"मि० गांधी से पत्र-व्यवहार या भेंट होने देने के सम्बन्ध में भारत-सरकार की जो नीति है उसके अनुसार उसने निश्चय किया है कि मि० गांधी का पत्र मि० जिन्ना को नहीं भेजा जा सकता। मि० गांधी और मि० जिन्ना को इस बात की सूचना दे दी गई है। जिस व्यक्ति को एक ग़ैर-क़ानूनी जन-आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के कारण नज़रबंद किया गया है, जिसने उस आंदोलन का विरोध न करके चिंताजनक समय में भारत की युद्ध की तैयारी में भारी बाधा डाली है, उसे राजनीतिक पत्रव्यवहार या भेंट की सुविधा देने को भारत-सरकार तैयार नहीं है। मि० गांधी चाहें तो भारत-सरकार को इस बात का आश्वासन दे सकते हैं कि उन्हें देश के राजनीतिक मामलों में फिर से भाग लेने देने में कोई ख़तरा नहीं है। जब तक वे ऐसा नहीं करते तब तक उन पर जो बंधन लगे हुए हैं उनकी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर है।"

इसके अगले दिन भारत-मंत्री ने पार्लमेन्ट की कामन्स सभा में कहा कि मि० गांधी और कांग्रेस के दीगर नज़रबंद नेताओं पर मुक़दमा चलाने का भारत-सरकार का कोई इरादा नहीं है।

सारांश यह कि सन् १६२७ से भारतीय शासन-विधान को ले कर वाद-विवाद चल रहा है। इतना लम्बा वाद-विवाद संसार के किसी भी देश में पुराने मतभेदों और विरोधों को उग्रतर बना देगा और नये झगड़े पैदा कर देगा। जो घाव जल्द ही भर सकते हैं, देर होने से विषैले हो जाते हैं। विभिन्न दलों की परस्पर-विरोधी माँगों को सुनते-सुनते लोगों की चिंता और आशंका बढ़ने लगती है। राजनीति में फ्रायड के मत के विरुद्ध ऐलफ्रैड ऐडलर का यह मत अधिक युक्तिसंगत मालूम देता है कि मानसिक विचित्रता या अस्वस्थता का कारण भूतकाल से नहीं भावी आशंकाओं से सम्बन्धित होता है। इसके सिवाय जिन आशाओं की पूर्ति की सम्भावना रही हो, उनकी पूर्ति न होने से लोगों में निराशा का उदय होना स्वाभाविक ही है। सन् १६३० से अब तक की भारतीय राजनीति में मनोवैज्ञानिक अस्वस्थता की झलक बहुत स्पष्ट दिखाई देती है। भविष्य के सम्बन्ध में ऐसी आशंका उत्पन्न हो गई है कि कोई नेता अथवा दल जो कुछ भी कहता या करता है, उसे दूसरे नेता अथवा दल संदेह की दृष्टि से देखते हैं।

उत्तरदायित्व की भावना की कमी

सन् १६३०-१६३१ में ब्रिटिश सरकार, देशी नरेशों, कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच समझौते की सम्भावना दिखाई पड़ती थी। परन्तु तब से ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है त्यों-त्यों समझौता होना भी कठिन होता गया है। टालमटूल की नीति ने भारतीय शासन-विधान की सभी बातों को विवादग्रस्त बना दिया है और सभी के

मन में अस्थिरता ला दी है। जो लोग राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से पुनर्निर्माण की दिखावटी आयोजनाएँ तैयार करते हैं और अच्छे से अच्छे भाव पर सौदा पटाने के लिए पग-पग पर अपनी माँगें बढ़ाते चले जाते हैं उनके लिए अनंत काल तक चलने वाला वाद-विवाद बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। टालमटूल के परिणाम-स्वरूप माँग बढ़ाते रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला और अब इन दोनों के बीच अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। उत्तर-दायित्व की भावना और मेल की इच्छा, इन दोनों की शक्ति क्षीण हो गई है।

राजनीतिक दलों के विकास में बाधा

केन्द्र में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना में विलम्ब होने के फल-स्वरूप राजनीतिक दलों के विकास में भी बाधा उपस्थित हुई है। राजनीतिक स्वतन्त्रता एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। जो भावनाएँ मनुष्य जाति में उत्साह का संचार कर सकी हैं उनमें एक यह भी है। जब एक बार यह प्रश्न उठ खड़ा होता है तो जब तक इसका निपटारा न हो जाय तब तक यह टल नहीं सकता। जब तक राजनीतिक शक्ति भारतीय जनता के हाथों में नहीं आ जाती तब तक देश में एक ही बड़े राजनीतिक दल के लिए स्थान है—और यह दल वही होगा जो मौजूदा सरकार से किसी न किसी तरह युद्ध जारी रक्खे। उसकी स्वतन्त्रता की पुकार में ऐसी शक्ति होगी कि कोई दूसरा दल उसके मुक़ाबले में नहीं टिक सकता। किसी दूसरे दल के लोगों में चाहे कितनी ही योग्यता, बुद्धिमत्ता और समझदारी क्यों न हो, परन्तु उसके विरोध में वे देश के बहुसंख्यक समुदाय या सम्प्रदाय का तो समर्थन प्राप्त नहीं कर सकेंगे। प्रान्तीय तथा स्थानीय निर्वाचनों में भी राजनीतिक स्वतन्त्रता का प्रश्न आये बिना नहीं रहेगा और वहाँ भी इसके लिए

युद्ध करनेवाले दल की विजय होगी। दूसरी ओर, शासन-शक्ति के बँटवारे को ले कर मुसलमानों का एक दल बनने लगेगा ताकि वह ब्रिटिश सरकार और हिन्दुओं दोनों का ही सामना कर सके। और जब तक शक्ति मिल नहीं जाती तब तक उसका बँटवारा हो कर यह झगड़ा दूर नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वराज्य के असली प्रश्न के निर्णय में विलम्ब होने के फल-स्वरूप भारतीय राजनीति शासन-शक्ति के लिए झगड़ने वालों का अखाड़ा बन गई है—ब्रिटिश सरकार शक्ति का त्याग करने में अनिच्छा से कार्य कर रही है, नरेशगण यह चाहते हैं कि संघ-सरकार में शामिल होने की वजह से उनके अब तक के अधिकारों में कोई कमी न हो, राष्ट्रवादी दल समस्त शक्ति को हथिया लेने के लिए उत्सुक है, मुसलिम लीग मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर लेने को प्रयत्नशील है, हिंदू महासभा का ध्यान हिन्दुओं के अधिकारों पर लगा हुआ है और अल्प-संख्यक समुदाय, जिनकी संख्या बढ़ती जाती है, अपने-अपने लिए अपनी जन-संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व माँगने में लगे हुए हैं। ऐसे वातावरण में वास्तविक राजनीतिक दलों का—आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रमों को लेकर बनने वाले दलों का—विकास नहीं हो सकता। शक्ति के लिए चलने वाले संघर्ष के फल-स्वरूप विभिन्न समुदायों के ही दल बन गये हैं और राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने की अभिलाषा रखने वालों को इच्छा अथवा अनिच्छा से इन्हीं में सम्मिलित हो जाना पड़ता है। कार्यकर्त्ताओं की स्थिति तूफ़ान में पड़े हुए मल्लाहों जैसी हो गई है जिन्हें लाचार हो कर आँधी के रुख़ के मुताबिक़ ही अपनी नाव खेनी पड़ती है। मुसलिम कार्यकर्त्ता यह अनुभव करता है कि मुसलिम लीग के बाहर उसके लिए कार्यक्षेत्र नहीं है। अगर हिन्दू कार्यकर्त्ता के लिए किसी कारणवश कांग्रेस में सम्मिलित होना सम्भव न हो तो फिर वह हिन्दू महासभा का ही आश्रय ले सकता है। दो-तीन शक्तिशाली संस्थाएँ

बन गई हैं जो पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता में अपने-अपने अनुयायियों पर ऐसे कड़े बन्धन लगा रही हैं कि जो भी उनकी किसी बात से मतभेद प्रकट करे वही विरोधी समझा जाने लगता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों के विकास में ऐसी बाधा उत्पन्न हो गई है कि आर्थिक तथा अन्य प्रश्नों को उनका उचित महत्व नहीं प्राप्त हो रहा है।

पार्लीमेन्टरी परम्परा का पालन

इस पृष्ठभूमि को मद्दे-नज़र रखते हुए अब हम उन विचारों तथा प्रगतियों पर विचार करेंगे जिन्होंने १९३७ से अब तक के समय में भारतीय राजनीति को उसकी वर्तमान अवस्था में पहुँचा दिया है। १९३७ के चुनाव में कांग्रेस ने छः प्रान्तों में विजय प्राप्त की और उन छहों प्रान्तों में, और कुछ ही महीने बाद सीमाप्रान्त के सातवें प्रान्त में भी, उसने शुद्ध कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का निर्माण किया। उसने मुसलिम लीग के साथ मिल कर संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने से इनकार किया, जिसके दो कारण मुख्य थे—एक तो पार्लीमेन्टरी परम्परा का पालन और दूसरे उसकी यह आशा कि अपने कार्यक्रम के द्वारा वह मुसलिम जनता को कांग्रेस के झंडे के तले ले आवेगी। अंग्रेज़ जाति ने जहाँ-जहाँ भी पार्लीमेन्टरी ढंग के लोकतंत्र की स्थापना की है, वहाँ-वहाँ एक-एक दल के मंत्रिमंडलों का ही रिवाज रहा है। संयुक्त मंत्रिमंडल कभी-जभी ही बने हैं और उनका अनुभव उत्साहवर्द्धक सिद्ध नहीं हुआ। "इंगलैंड को संयुक्त मंत्रिमंडल से प्रेम नहीं" यह उसके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डिज़रेली का कथन है। भारत में संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने में यह आशंका थी कि शायद किसी मामले में गवर्नर से मतभेद होने पर वह एक स्वर से न बोल सकेगा। यह भी सम्भव था कि महायुद्ध में भाग लेने या न लेने जैसे अखिल-भारतीय प्रश्न पर उसके सब सदस्य इस्तीफ़ा देने को सहमत न होते। कांग्रेस के सम्मुख मुख्य ध्येय ब्रिटिश साम्राज्यवाद से

युद्ध करने का था, इसलिए वह अपने संगठन में किसी प्रकार की ढील नहीं आने देना चाहती थी और संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने का अर्थ होता इस प्रकार का ढील आ जाने देना। उसके अंदर यह भावना कार्य कर रही थी कि जब तक पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं होती तब तक जनता का एक ही राजनीतिक दल हो सकता है, वह दल कांग्रेस है, वह अन्य दलों को अपने में आत्मसात कर सकता है परंतु किसी दल के साथ संधि करके मिल नहीं सकता। इसके सिवाय कांग्रेस देश का सुधार भी करना चाहती थी, और उसे यह आशंका थी कि संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने से उसके ग्राम-सुधार, मद्य-निषेध, आदि के कार्यक्रम में कमज़ोरी आ जायगी। पार्लामेन्टरी परम्परा के पालन की धुन में कांग्रेस के नेता यह भूल गये कि एक दल वाला सिद्धान्त राजनीतिक आन्दोलन के सम्बन्ध में भले ही ठीक हो, परन्तु देश में क्रान्ति हुए बिना मंत्रिमंडलों के सम्बन्ध में लागू नहीं हो सकता। सन् १६३७ में कांग्रेस ने कौंसिलों से बाहर रहने की नीति को छोड़ कर शासन-भार वहन करने की नीति ग्रहण की थी। यह एक भारी परिवर्तन था, जिसके फल-स्वरूप राजनीतिक शक्तियों का पुनर्विभाजन आवश्यक था। उस समय देश एक संकट-काल से गुज़र रहा था और संकट-काल में इंगलैंड ने भी, उदाहरणतः सन् १६१५, १६३१ और १६४० में, संयुक्त मंत्रि-मंडल बना कर संकट पर विजय प्राप्त की है। एक दल का शुद्ध मंत्रि-मंडल वास्तव में तभी चल सकता है जब देश में दो ही प्रमुख तथा स्थायी राजनीतिक दल हों। इस प्रकार की दो दल वाली राजनीतिक प्रणाली को केवल अंग्रेज़ जाति ही निभा सकी है—वह भी बीच-बीच में झटके खा कर—और इसके कई कारण हैं। अंग्रेज़ जाति में कर्तव्य-पालन की भावना बड़ी प्रबल है, वह आवश्यक और अनावश्यक बातों को एक दूसरे से अलग रखना जानती है, तेरहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो कर उसका राजनीतिक विकास क्रमशः धीरे-धीरे हुआ है, और उसके

यहाँ सार्वजनिक जीवन के विषय में कुछ विशेष परम्पराएँ प्रचलित हो गई हैं। फ्रान्स आदि जिन देशों में पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली बिना क्रम-विकास के उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई, उनके यहाँ अनेकानेक राजनीतिक दल रहे और मंत्रिमंडलों का निर्माण भी कई-कई दल मिल कर करते रहे। इन देशों में मंत्रिमंडलों को जल्दी-जल्दी इस्तीफ़े भी देने पड़े पार्लीमेन्टों का कभी-कभी जल्दी-जल्दी निर्वाचन कराना पड़ा, सरकारों की स्थिति जितनी चाहिए उतनी दृढ़ नहीं हुई, दीर्घकालीन नीति निर्धारित होने में बाधाएँ उपस्थित हुईं और वोटों का क्रय-विक्रय भी हुआ। फिर भी यह प्रणाली बहुत समयतक काम देती रही और जब सन् १९४० में बुरी तरह असफल सिद्ध हुई तो इस नाकामयाबी की वजह उसकी शक्ति से बाहर की बातें थीं।

यह स्पष्ट है कि सन् १९३७ में भारत के प्रान्तों में शुद्ध तथा संयुक्त, दोनों ही प्रकार के मंत्रि मंडलों से कुछ लाभ की भी सम्भावना थी और कुछ हानि की भी। कुल मिला कर संयुक्त मंत्रिमंडल ही ज़्यादा ठीक रहते। उनके द्वारा सभी प्रमुख दलों को कार्य करने का अवसर मिल जाता और उनके लिए लोकहितकारी कार्यों में सहयोग प्रदान करने में आसानी हो जाती। बहुमत के अनुसार कार्य हो, यह कोई आचारशास्त्र का सिद्धांत नहीं है, केवल नीतिमत्ता का एक नियम है, और इसलिए इसका अर्थ सदा इस प्रकार लगाना चाहिए कि अल्पमत वाले भी सहमत हो सकें। परंतु उस समय कांग्रेस के निर्णय में पार्लीमेन्टरी परम्परा वाली बात की ही जीत रही और कांग्रेसी प्रान्तों में मुसलिम लीग को शासन-शक्ति के उपयोग में सहयोग दे सकने के अवसर से वंचित रहना पड़ा।

आर्थिक पहलू का महत्व आँकने में भूल

कांग्रेस के नेताओं ने मुसलिम लीग के साथ मिल कर संयुक्त मंत्रि-मंडल बनाने से तो इनकार किया था, परंतु इसका मतलब यह नहीं था

कि वे मुसलमानों को शासन-शक्ति में हिस्सा लेने देना न चाहते हों। उनका विचार यह था कि उनके आर्थिक कार्यक्रम के फल-स्वरूप मुसलिम जनता उनके दल में खिंच आवेगी और इस प्रकार एक देशव्यापी राष्ट्रीय दल बन जायगा जो धार्मिक तथा साम्प्रदायिक भेदों से ऊपर होगा। कांग्रेसी मार्क्सवादी अर्थात् कम्यूनिस्ट तो नहीं थे, परंतु बहुत से समाजवादियों की भाँति उन पर मार्क्स की इतिहास सम्बन्धी उस भौतिकवादी विचारधारा का प्रभाव था जिसने कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) को समाज सम्बन्धी विचारों पर प्रभाव डालने वालों में चार्ल्स डार्विन का समकक्ष बना दिया है। मार्क्स ने सन् १८४८ में फ़्रेडरिक ऐंगिल्स के साथ मिल कर "कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो" नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी जो आज भी कम्यूनिस्ट मत की सब से अच्छी और प्रामाणिक व्याख्या है। इसके बाद मार्क्स ने ब्रिटिश संग्रहालय के पुस्तकालय में बैठ कर बीस वर्ष के घोर परिश्रम के पश्चात् "कैपीटल" (पूँजी) नामक ग्रंथ तैयार किया। इसमें यह मत प्रतिपादित किया गया है कि आर्थिक पहलू, बल्कि उत्पादन का ढंग ही विकास का मूलाधार है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन, क़ानून, आचारशास्त्र, कला, साहित्य आदि सभी का विकास आर्थिक प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप होता है। बहुत बाद को ऐंगिल्स ने कहा था कि उन्होंने और मार्क्स ने आर्थिक पहलू को अत्यधिक महत्व देने में भूल की थी। दार्शनिक दृष्टि से आर्थिक प्रभाव को समाज पर प्रभाव डालने वाली आपस में मिली-जुली कई बातों से अलग करके एक पृथक प्रवृत्ति अथवा शक्ति के रूप में स्वीकार करना ही भूल था। कई-कई कारणों से उत्पन्न होने वाले परिणाम को किसी एक कारण का परिणाम बताने की कमज़ोरी मार्क्सवाद में अन्य "वादों" की अपेक्षा अधिक मात्रा में है। आर्थिक पहलू को ही सब कुछ मान लेने का परिणाम यह हुआ है कि विवेक, कल्पना तथा भावनाओं को, धर्म, जाति

तथा परम्परा के प्रभाव को, उचित महत्व नहीं दिया जा सका। मार्क्स-वाद की विचारधारा इतनी संकीर्ण है कि लेनिन यद्यपि पहले उसे अक्षरशः मानते थे, परंतु जब रूस की शासन-शक्ति उनके हाथ में आ गई तो उन्हें कई अहम मामलों में उससे हटना पड़ा। भारत में इस बात को विशेष रूप से याद रखने की आवश्यकता है कि कार्ल मार्क्स के मत की जो अनेक व्याख्याएँ की गई थीं उनसे स्वयं मार्क्स ही चक्कर में पड़ गये थे और एक बार उन्हें यहाँ तक कह देना पड़ा था कि मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ। यह बात भी याद रखने की है कि समाजवाद तथा कम्यूनिज़्म (मार्क्सवाद) की विचारधारा का यूरोप में, वहीं के अनुभव के आधार पर विकास हुआ है और वह उससे भिन्न वातावरण में अन्यत्र ज्यों की त्यों लागू नहीं होती। भारत में समाजवाद के मूल सिद्धान्त—साधारण जनता को सुख-सुविधा तथा संस्कृति की दृष्टि से उच्चतम स्तर पर पहुँचाने के सिद्धान्त को कैसे लागू किया जाय, इस सम्बन्ध में अभी किसी ने इतना भी नहीं किया कि यहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करके बीस वर्ष न सही बीस महीने ही किसी बड़े पुस्तकालय में बैठ कर इस तरह की आयोजना तैयार करता जो यहाँ के समाज, कृषि तथा उद्योग-धन्धों को दृष्टि में रख कर बनाई जाती। यही कारण है कि पिछले पच्चीस बरस में भारत में समाजवाद ने इतनी कम उन्नति की है और उसके सम्बन्ध में ऐसे-ऐसे भ्रम फैले हुए हैं जिनसे भारी हानि हो सकती है। इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि भारत के नेताओं का भविष्य में समाजवाद के प्रति सहानुभूति का भाव रहेगा, और यदि उसके सिद्धान्तों और उसकी कमज़ोरियों को ठीक तरह से समझ नहीं लिया गया तो हानि की सम्भावना रहेगी। मार्क्सवादियों की भाँति आर्थिक पहलू का अत्यधिक महत्व स्वीकार कर लेने का ही यह परिणाम था कि कांग्रेस के नेताओं ने यह मान लिया कि जब वे जनता से उसके आर्थिक हित की बात कहेंगे तो वह उसके सामने धर्म, संस्कृति

या राजनीतिक अधिकार की बात करने वालों की एक न सुनेगी ।

धर्म बनाम लोकहित

भारतीय राजनीतिज्ञों को सन् १६३७ में धर्म और लोकहित के बीच बड़ी सतर्कता से मार्ग स्थिर करना था। बड़ी कठिन परीक्षा थी। एक ओर धर्म को राजनीति में उसका उचित महत्व प्रदान करना और दूसरी ओर सार्वजनिक जीवन को जहाँ तक सम्भव हो इसी लोक के हिताहित तक सीमित रखना तलवार की धार पर चलने के समान था। यह ऐसा कार्य था जैसे दो परस्पर-विरोधी बातों के बीच सामंजस्य स्थापित करना। इन सब के ऊपर थीं पृथक-निर्वाचन-प्रणाली की त्रुटियाँ। कौंसिलों में क़ानून पास करानेवाले हिंदू नेता मुसलिम निर्वाचकों की विचारधारा से पूरी तरह परिचित नहीं थे। हिंदू राजनीतिज्ञों को मुसलमानों की नाराज़गी की उतनी अधिक चिन्ता नहीं थी जितनी उनका निर्वाचन हिंदू और मुसलमान दोनों वोटरों के द्वारा होने की हालत में होती। पृथक निर्वाचन के ही कारण यह सम्भव हुआ कि कांग्रेस के नेताओं ने पार्लीमेन्टरी परम्परा को महत्व दे कर शुद्ध कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनाने का निर्णय किया और कम्यूनिस्ट सिद्धान्त के भ्रम में पड़ कर साधारण मुसलिम जनता को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयत्न किया। यह वास्तव में उनकी भूल मात्र थी, परंतु राजनीतिक शक्ति के लिए चलने वाले संघर्ष के फल-स्वरूप जो वातावरण उत्पन्न हो गया था उसमें दूसरे पक्ष ने छोटी बात को बड़ा बना कर इस बात का यह अर्थ लगा लिया कि कांग्रेस ने हिंदू राज्य स्थापित करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है।

सार्वभौम-इसलामवाद

पार्लीमेन्टरी परम्परा के प्रति अपनी पुरानी प्रीति और समाजवाद

या कम्यूनिज़्म के प्रति अपनी नई सहानुभूति के फल-स्वरूप कांग्रेस ने मुसलिम लीग को अपना विरोधी बना लिया। इसी प्रकार मुसलिम लीग को सार्वभौम-इसलामवाद के प्रति जो पुरानी प्रीति थी और यूरोप के अल्पसंख्यक समुदायों की राजनीति से उसने जो नई शिक्षा ग्रहण की, उनके फल-स्वरूप वह कांग्रेस की घोर शत्रु बन गई। इसलाम दुनिया भर के मुसलमानों के भाई-भाई होने पर ज़ोर देता है। सार्वभौम-इसलामवाद का अर्थ है संसार भर के मुसलिम राष्ट्रों अथवा मुसलमानों के बीच संधि अथवा सहयोग अथवा एकता। इसलिए देखने में यह इसलाम के धार्मिक सिद्धान्त का राजनीतिक पहलू मालूम देता है। इतिहास पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि जब आठवीं शताब्दी में इसलाम तीन महाद्वीपों (एशिया, अफ्रीका और यूरोप) में फैल गया था तभी ख़िलाफ़त की राजनीतिक एकता को क़ायम रखना कठिन हो गया था। तेरहवीं शताब्दी में मंगोलों ने ख़िलाफ़ते-अब्बासिया को ऐसा धक्का पहुँचाया कि वह उससे कभी न सँभल सकी। परंतु सारी इसलामी दुनिया के लिए ख़लीफ़ा के रूप में एक अध्यक्ष की आवश्यकता है, यह विचार फिर भी जीवित रहा और कुस्तुनतुनिया-स्थित तुर्क सुलतान ख़लीफ़ा मान लिये गये। तीन सौ वर्ष बाद आमद-रफ़्त और व्यापार की नई सुविधाओं का विकास होने से ख़िलाफ़त के विचार को एक नवीन जीवन तथा स्फूर्ति की प्राप्ति हो गई। इसी के आधार पर सुलतान अबदुल हमीद द्वितीय (१८७६-१९०८) सार्वभौम-इसलामवाद के नेता बने और इसी की बिना पर टर्की के नेताओं ने १९१४-१९१८ के महायुद्ध में अपने संसार भर के सहधर्मियों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने टर्की को एक राष्ट्र का स्वरूप दिया और उसकी जनता में आधुनिकता का संचार किया और इसके साथ ही १९२४ में ख़िलाफ़त का ख़ातमा कर दिया। लेकिन ख़िलाफ़त के ख़ातमे के साथ उसके विचार का अंत नहीं हो

गया। दो साल बाद क़ाहिरो (मिस्र) में एक ख़िलाफ़त कान्फ़रेन्स हुई जिसमें एक भारतीय प्रतिनिधिमंडल भी मौजूद था और जिसमें इस बात की कोशिश हुई कि सब मुसलिम राष्ट्रों का एक संघ हो और उसके अध्यक्ष एक ख़लीफ़ा हों। यह प्रयत्न असफल रहा, परंतु इसके बाद की भी एक और घटना उल्लेखनीय है। वह यह है कि ३० जनवरी, १९३९ को क़ाहिरो के एक हज़ार बरस पुराने दारुल-उलूम (विश्व-विद्यालय) अल अज़हर के शेख़ों ने यमन के अमीर हुसैन और सऊदी अरब के अमीर फ़ैज़ल तथा अमीर ख़लीद की उपस्थिति में यह प्रस्ताव किया था कि मिस्र-नरेश फ़रुख़ को मुसलिम जगत का ख़लीफ़ा बना दिया जाय।

सार्वभौम-इसलामवाद के मार्ग में कठिनाइयाँ

संसार भर के मुसलिम राष्ट्रों का एक संघ बनाने का विचार सैकड़ों वर्ष से पूरा नहीं हो सका और आज आमद-रफ़्त की नई सुविधाएँ हो जाने पर भी उसकी पूर्ति के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित हैं। सब से बड़ी बाधा यह है कि मुसलिम राष्ट्रों के बीच रेगिस्तान और पहाड़ हैं जिनके कारण वे भौगोलिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न देश बन गये हैं जिनके आर्थिक हिताहित एक नहीं हैं। एक और बाधा यह है कि मुसलिम देशों के निवासी कम से कम तीन स्पष्ट जातियों में बँटे हुए हैं—अरब, तुरानी या तुर्क और आर्यन या ईरानी। मिस्र और अफ़ग़ानिस्तान के बीच भाषाएँ भी कम से कम चार हैं—तुर्की, अरबी, फ़ारसी और पश्तो। मुसलिम जगत अधिकतर सुन्नी सम्प्रदाय का अनुयायी है, उसके बीच में स्थित ईरान शिया सम्प्रदाय का। सन् १९१८ में अरब लोगों की आकांक्षाओं का सार्वभौम-इसलामवाद की भावना से संतोष नहीं हुआ और उनके अलग हो जाने के फल-स्वरूप तुर्क साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। हाल के बरसों में टर्की में, और कुछ हलके तौर पर

ईरान में भी, अरब संस्कृति के विरुद्ध एक लहर उठी है। दूसरी ओर, अरबी भाषा-भाषी प्रदेशों में अपना एक संघ बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया है। इधर टर्की और मिस्र में राष्ट्रीयता तथा लौकिकता की भावनाओं में जो वृद्धि हुई है वह सार्वभौम-इसलाम-वाद की धार्मिक भावना की विरोधिनी ही है। फिर मुसलिम राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय मित्रताएँ भी एक सी नहीं रही हैं, इस कारण भी उनका एक संघ बन सकना बड़ी कठिन बात रही है। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के कुछ साल पहले टर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के बीच एक समझौता हुआ था जो सादाबाद का समझौता कहलाता है, परंतु वह एक वास्तविक संधि के रूप में परिणत नहीं हो सका।

सार्वभौम-इसलामवाद का आकर्षण

बावजूद इन सब रुकावटों के सार्वभौम-इसलामवाद की गणना उन आदर्शों में करनी होगी जो राष्ट्रवाद और विश्ववाद के बीच की वस्तु हैं। एक ओर वह मुसलमानों के दृष्टिकोण को विस्तीर्ण करता है, उनकी मानवता का विकास करता है। जब इस शताब्दी में मिस्र में स्वतंत्रता का आन्दोलन उठा, जब सन् १९०७ में ईरान ने अपने देश को ब्रिटेन और रूस के हस्तक्षेप से मुक्त करने के लिए उन शक्तिशाली राष्ट्रों का विरोध किया, जब पिछले महायुद्ध के पश्चात् टर्की के साम्राज्य का अंग-भंग हुआ, जब १९२१ से फ़िलस्तीन के अरबों ने अपने को राजनीतिक और आर्थिक ख़तरों से बचाने की कोशिश शुरू की, और जब १९३९ में इटली ने अलबानिया की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया—तब-तब भारत के मुसलमानों में अपने सह-धर्मियों के प्रति सहानुभूति की लहर पैदा हुई। यह सोचने में कि हिंदु-स्तान से बाहर ऐसे देश हैं जहाँ के निवासी मुसलमान हैं और जो

हिंदुस्तान की तरह पराधीन न होकर आज़ाद हैं, अगर भारत के मुसलमानों को कुछ संतोष होता है और उनके हृदय में आत्मगौरव तथा आत्मसम्मान की भावना उदय होती है तो यह स्वाभाविक ही है। यह तो एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह है कि अपने देश से बाहर के लोगों के प्रति अपनेपन की भावना भारत के मुसलमानों की राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति की भावना को कमज़ोर कर देती है। एक समय "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा" की पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले देशभक्तिपूर्ण तथा लोकप्रिय गीत की रचना करने वाले सर मुहम्मद इक़बाल ने सार्वभौम-इसलामवाद के समर्थक बन जाने के बाद घोषणा की थी कि देशभक्ति की भावना इसलाम की आत्मा के विरुद्ध है, क्योंकि इसलाम का सिद्धान्त तो यह है कि मुसलमान, चाहे वे किसी भी जाति या देश के हों, सब भाई-भाई हैं। मुसलमानों की देशभक्ति की भावना कमज़ोर पड़ जाने से उनका शक्ति के लिए चलने वाले संघर्ष की ओर खिंच आना—यानी यह सोचने लगना कि उन्हें अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति पर अधिकार करने और अधिक से अधिक प्रदेशों को अपने नियंत्रण में लाने की कोशिश करनी चाहिए—आसान हो जाता है। यह विचारधारा उन्हें कहाँ तक ले जा सकती है, इसकी मिसाल एक हाल ही में प्रकाशित पुस्तिका से मिलती है जिसके लेखक ने उस पर अपना नाम न देकर अपने को "पंजाबी" कहा है। इस पुस्तिका में यह मत प्रकट किया गया है कि जिसमें कई धर्मों के लोग हों ऐसा राष्ट्र इसलाम के सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है, धर्म और राजनीति के बीच अटूट सम्बन्ध होने के कारण मुसलमानों को अपना पृथक राष्ट्र बनाना चाहिए ताकि वे इसलामी राजनीति का विकास कर सकें। इसके बाद लेखक को इस बात का ध्यान आता है कि जब सारा संसार इसलामी रास्ते पर नहीं चलता तो उसके बीच इसलामी आदर्शों का पालन करने वाले राष्ट्रों के लिए अपने सिद्धान्तों का अधिक समय तक निर्वाह करना

कठिन हो जायगा। इसलिए उसका विचार है कि "हमें संसार को इसलाम के रास्ते पर लाने के लिए विश्व-क्रांति का उपाय सोचना होगा।"

संरक्षण-प्रणाली की यूरोप में असफलता

भारत में विभिन्न समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों को ले कर जो वाद-विवाद चल रहा था, उस पर यूरोप में चलने वाले इसी प्रकार के विवादों का प्रभाव पड़ना लाज़मी ही था। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्र-वाद ने यूरोप में बड़ा उग्र रूप धारण किया, जिसके फल-स्वरूप एक ओर तो राष्ट्रों ने अल्प-संख्यक समुदायों को आत्मसात कर लेने की कोशिश की, और दूसरी ओर अल्प-संख्यक समुदायों में जातीयता की भावना ने बल पकड़ा और इस प्रकार एक गंभीर समस्या उठ खड़ी हुई। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस बात की कोशिश की गई कि अल्प-संख्यक समुदायों की रक्षा के लिए उनके देशों के शासन-विधानों में तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में उनके नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में संरक्षणों की व्यवस्था कर दी जाय। इस व्यवस्था के प्रति भारत में भी सहानुभूति की भावना का उदय हुआ, परन्तु थोड़े से वर्षों के भीतर ही यह व्यवस्था यूरोप में ही असफल सिद्ध हो गई। जातीयता की भावना और राष्ट्रवाद के उत्साह का यह परिणाम हुआ कि अल्प-संख्यक लोग अपने देशवासियों की अपेक्षा निकटवर्ती देशों के सजातीय लोगों के प्रति निजत्व का अनुभव करने लगे और उन देशों के कर्णधार इन लोगों के प्रदेशों को अपने देश में मिला लेने का प्रयत्न करने लगे। संधियों में परिवर्तन कराने के भी प्रयत्न हुए और एक देश के अन्दर दूसरे देश के लोगों के द्वारा षड्यन्त्र भी रचे गये। इस प्रकार कई देशों में बहु-संख्यक तथा अल्पसंख्यक समुदायों के बीच विरोध की भावना बढ़ी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी गुत्थियाँ उलझीं। मध्य तथा पूर्वीय यूरोप में संरक्षण-प्रणाली की असफलता देख

कर अन्य देशों के निवासियों का भी उस पर से विश्वास उठ गया। इन अवांछनीय घटनाओं का असली कारण यह था कि लोगों ने राष्ट्रीयता का ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझा और न यही समझने की कोशिश की कि राष्ट्र और जाति (क़ौम) समानार्थक शब्द नहीं हैं। अल्पसंख्यक समुदायों के आंदोलनों की उग्रता बढ़ती गई, वे अपनी शिकायतों का इज़हार करने और उनसे मुक्ति पाने के लिए कड़े-कड़े उपाय सोचने लगे। सन् १९३७-१९३९ के बीच भारत के मुसलमानों ने हिन्दुओं के विरुद्ध जो शिकायतें और माँगें पेश की हैं वे उन शिकायतों और माँगों से बहुत मिलती-जुलती हैं जो सन् १९३८-३९ में सीरिया के अल्पसंख्यक ईसाइयों तथा शिया मुसलमानों ने वहाँ के बहु-संख्यक सुन्नी मुसलमानों के विरुद्ध की थीं।

सूडेटन जर्मनों का उदाहरण

हिंदुस्तान को दो टुकड़ों में बाँट देने की वकालत करने वालों की बातों और चैकोस्लोवेकिया के सूडेटन जर्मनों के आंदोलन के ढंगों के बीच तो और भी अधिक सादृश्य है। चैकोस्लोवेकिया में जर्मनों की संख्या २३॥ प्रतिशत थी, और ये लोग मुख्यतः बोहेमिया, मोरेविया तथा साइलेसिया के प्रान्तों में बसे हुए थे। बहुत समय तक ये देश के शासन में पहले की अपेक्षा अधिक भाग प्राप्त करने के लिए आंदोलन करते रहे। परंतु जब जर्मनी में नाज़ी पार्टी ने अपना यह आदर्श बनाया कि जर्मनी से बाहर के जर्मन भी जर्मन राष्ट्र के अन्तर्गत होने चाहिएँ तब सूडेटन जर्मन पार्टी, जिसके नेता हैनलीन थे, सन् १९३३ से और १९३५ से और भी स्पष्ट रूप से यह चाहने लगी कि जर्मनी और चैकोस्लोवेकिया के बीच की सीमा में रद्दोबदल होनी चाहिए। चैकोस्लोवेकिया की सरकार से, विशेष कर सन् १९१८ के बाद ही के वर्षों में, कुछ ग़लतियाँ ज़रूर हुई थीं, परंतु कुल मिला कर अपने अल्प-संख्यक समुदायों के प्रति उसका व्यवहार यूरोप की किसी भी दूसरी सरकार की तुलना

में अच्छा ही था। लेकिन बावजूद इस बात के अब सूडेटन जर्मनों ने उस पर अन्यायों और अत्याचारों के अभियोग लगाना शुरू कर दिया और इन इलज़ामों को साबित करने के लिए उन्होंने कोई सबूत पेश नहीं किये। इसके बाद तो यूरोप के सभी अल्प-संख्यक समुदायों ने यह हल्ला मचाना कि उन पर अत्याचार हो रहा है अपने आंदोलन का एक अंग बना लिया। चैक सरकार ने अपने जर्मन नागरिकों को नई सुविधाएँ और रिआयतें देना चाहा, परंतु सूडेटन पार्टी उनको अस्वीकार करती हुई अपनी माँगें बढ़ाती गई। २४ अप्रैल १६३८ को कार्ल्सबाद में भाषण करते हुए हैनलीन ने अपनी पार्टी की ओर से आठ बातों की घोषणा की। इस भाषण में उन्होंने पहले तो इसी बात का खंडन किया कि चैकोस्लोवेकिया एक राष्ट्र है और सूडेटन जर्मन उसके अंतर्गत एक अल्प-संख्यक समुदाय हैं। फिर उन्होंने ये माँगें पेश कीं कि सूडेटन जर्मनों और चैक लोगों की स्थिति बराबर की मानी जाय, समस्त जर्मनों को सामूहिक रूप से एक माना जाय, जर्मन प्रदेश के निवासियों को जीवन के प्रत्येक विभाग में स्वाधीनता रहे और उन्हें यह घोषणा करने की पूरी स्वतंत्रता हो कि वे जर्मन विचारधारा के समर्थक हैं। ७ जून को उन्होंने चैक सरकार को एक पत्र लिखा (जो १६ जुलाई तक अप्रकाशित रहा) जिसमें उन्होंने यह माँग पेश की थी कि चैकोस्लोवेकिया को उसके निवासियों की जातीयता के अनुसार प्रदेशों में विभाजित किया जाय, प्रत्येक प्रदेश को अपने आन्तरिक मामलों में स्वतंत्रता रहे और जो मामले केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहें उनका निर्णय करने में इन प्रदेशों को बराबरी का अधिकार मिले। अंत में सूडेटन जर्मनों ने होमरूल (स्थानीय स्वराज्य) का प्रस्ताव भी अस्वीकार कर दिया और अक्टूबर १६३८ में जर्मनी, फ़्रान्स और ब्रिटेन की सहायता तथा स्वीकृति से सूडेटनलैंड चैकोस्लोवेकिया से अलग हो कर जर्मनी का प्रदेश बन गया। परंतु इसके बाद भी चैकोस्लोवेकिया का

प्रसंग समाप्त नहीं हुआ। सूडेटनलैंड निकल जाने के बाद बाक़ी चैको-स्लोवेकिया भौगोलिक दृष्टि से अरक्षित हो गया। सब जर्मन एक राष्ट्र के अंग हों, इस पुकार में साम्राज्यवाद की भावना छिपी हुई है। मार्च १६३६ में नाज़ी जर्मनी ने स्लोवेक प्रान्त को छोड़ कर बाक़ी चैको-स्लोवेकिया को हड़प लिया और इस प्रकार वर्तमान महायुद्ध की तैयारी शुरू हो गई। अब चैक देशभक्त यह आशा करते हैं कि वर्तमान महा-युद्ध के समाप्त हो जाने पर चैक लोगों की एकता और स्वतंत्रता की पुनः स्थापना हो जायगी। चाहे उन्हें किसी संघ राज्य में सम्मिलित होना पड़े, परंतु उसके अंदर उन्हें आत्मसम्मानपूर्ण तथा समानता का स्थान मिलना चाहिए।

चैकोस्लोवेकिया की घटनाओं का भारत पर प्रभाव

चैकोस्लोवेकिया की घटनाओं के फल-स्वरूप सितम्बर १६३८ में यूरोप में युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना उत्पन्न हो गई थी और मार्च १६३६ में तो सब को इस बात का विश्वास हो गया था कि अब महायुद्ध हो कर ही रहेगा। ये सब घटनाएँ समाचारपत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित हुई थीं और भारत में भी तथा अन्य देशों में भी लोगों ने उनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था। १६३६-३८ के बीच सूडेटन जर्मनों ने जिस प्रकार पहले यह माँग पेश की थी कि उन्हें शासन में और अधिक भाग मिलना चाहिए, फिर यह दावा पेश किया था कि वे अल्प-संख्यक समुदाय नहीं बल्कि एक क़ौम हैं, फिर चैकोस्लोवेक लोगों को एक क़ौम मानने से इनकार किया था, फिर बिना सबूत के अन्याय और अत्याचार की आवाज़ उठाई थी, फिर सीमाओं में रद्दोबदल की बात उठाई थी और अंत में यह माँग पेश की थी कि उनके प्रान्त को स्वतंत्र कर दिया जाय और जो अधिकार केन्द्रीय सरकार के हाथ में देना आवश्यक ही समझा जाय उसमें उन्हें ५० प्रतिशत हिस्सा दिया जाय—इन पर

अगर विचार किया जाय तो मुसलिम लीग के सन् १६३६-४२ के प्रस्तावों में भी इन सब बातों की स्पष्ट छाया देख पड़ेगी। सच तो यह है कि कुछ बातों में तो सूडेटन जर्मनों तथा मुसलिम लीग की शब्दावली भी एक सी ही मिलेगी।

प्रान्तों का पुनर्विभाजन

भारत की हाल की घटनाओं में एक बात उसके प्रान्तों का पुनर्विभाजन भी है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह मालूम होने लगा था कि प्रान्तों की सीमाओं में स्थिरता आ गई है और वे टिकाऊ साबित हो सकेंगी, परन्तु इसके बाद ही पुनर्विभाजन की क्रिया प्रारम्भ हो गई जो बहुत से लोगों के विचार से अभी समाप्त नहीं हो पाई है। लार्ड कर्ज़न ने सन् १६०१ में सीमाप्रदेश में एक नया प्रान्त बना दिया और १६०५ में बंगाल के अहाते को, जो वास्तव में बहुत बड़ा था, दो प्रान्तों में विभाजित कर दिया। बंग-भंग के विरोध में जो आंदोलन चला उसका असर हुआ और सन् १६१२ में पूर्वीय भारत में प्रान्तों का पुनर्निर्माण होने के साथ ही दिल्ली को भारत की राजधानी बना कर उसे एक पृथक प्रान्त भी बना दिया गया। बहुत से लोगों ने यह विचार प्रकट किया कि अगर प्रान्तों का भाषाओं के आधार पर पुनर्निर्माण हो जाय तो पार्लामेन्टरी शासन-प्रणाली को कार्यान्वित करने में सुविधा हो जायगी। कांग्रेस ने अपने संगठन के सम्बन्ध में इस प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया। सन् १६३७ तक सिंध और उड़ीसा का क्रमशः बम्बई तथा बिहार के प्रान्तों से पृथक्करण हो चुका था। आंध्रदेश, मराठी मध्य प्रान्त, हिन्दुस्तानी मध्य प्रान्त (महाकोशल) तथा केरल प्रदेश भी अलग-अलग प्रान्त बन जाने के लिए उत्सुक थे। सन् १६३५ में भारतीय विधान के सम्बन्ध में पास होने वाले क़ानून में भारत के लिए एक संघ-सरकार की स्थापना की बात कही गई थी और इसकी बाबत यह मालूम

देता था कि इस में सम्मिलित होने के लिए छोटे-छोटे देशी राज्यों के गुट्ट बन जायँगे। चूँकि समस्या हल होने के बजाय वाद-विवाद चलता ही जा रहा है, इसलिए ऐसी हालत में पृथक्करण में ही अपनी रक्षा देखने वालों को अगर प्रान्तीय पुनर्विभाजन की और भी आयोजनाएँ सूझें तो कोई आश्चर्य की बात न होगी।

तानाशाही मनोवृत्ति

भारतीय राजनीति की प्रवृत्ति तथा धारा पर विदेशी बातों का प्रभाव पड़ने के सम्बन्ध में हम पार्लमेन्टरी परम्परा, समाजवाद की विचारधारा, सार्वभौम-इसलामवाद तथा यूरोपीय अल्प-संख्यकों के आंदोलनों का उल्लेख कर चुके हैं। इनके सिवाय कुछ और बातों का भी प्रभाव पड़ा है। पिछले पच्चीस वर्षों में यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों में राजा या पार्लमेन्ट के अधिकार उन लोगों के हाथों में आ गये हैं जिन्हें सर्वेसर्वा या तानाशाह कहा जाता है। इसका कारण कुछ तो सैनिकवाद अथवा उग्र राष्ट्रवाद है, कुछ समुदाय विशेष की महत्वाकांक्षा, कुछ राष्ट्र की समस्त शक्ति का उपयोग करके उसे शक्तिशाली बनाने की इच्छा और कुछ शीघ्रतापूर्वक उन्नति-पथ पर अग्रसर होने की अभिलाषा। पर्लमेन्टरी शासन-प्रणाली में बहुमत वालों के मार्ग में बाधाएँ डाल सकने की इतनी सुविधाएँ हैं कि सुधार की चाल धीमी पड़ जाती है, इसलिए शीघ्र उन्नति चाहने वालों को सर्वेसर्वा का ढंग आकर्षक दिखाई पड़ता है। तानाशाहों का उदय आधुनिक संसार की एक महत्वपूर्ण घटना है। सोवियट रूस, प्रजातंत्र टर्की, फ़ासिस्ट इटली, नाज़ी जर्मनी आदि देशों की प्रवृत्तियों में अनेक बातों का अन्तर रहते हुए भी सब में तानाशाहों के आधिपत्य का स्थापित हो जाना निस्संदेह एक ऐसी घटना है जिसकी ओर भारत तथा अन्य देशों के लोगों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। उसका थोड़ा-बहुत अनुकरण

होना भी लाज़मी था। भारतीय वातावरण में तानाशाही नेतृत्व के अनुकूल कुछ बातें मौजूद भी थीं। आधुनिक युग की तानाशाही राजनीतिक दलों की तानाशाही है जिसका आधार उन दलों की यह भावना है कि उनकी विचारधारा का पूरी तरह पालन किया जाय और उनके सदस्य पूरी तरह आज्ञाओं का पालन करें। भारत में सन् १६१६ से राजनीतिक क्रियाशीलता का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाने और उसमें अल्प-संख्यक शिक्षित वर्ग के अतिरिक्त बहु-संख्यक जन-समुदाय के सम्मिलित हो जाने के फल-स्वरूप नेताओं के लिए तानाशाही ढंगों से काम लेना पहले की अपेक्षा आसान हो गया है। राजनीतिक दल अब अधिक सुसंगठित हो गये हैं, परन्तु साथ ही उनकी शक्ति चंद नेताओं के हाथों में जाने लगी है। वे जब चाहें तब सरकार या दूसरे दलों के साथ समझौते की बातचीत शुरू कर सकते हैं और जब चाहें तब उसे ख़तम कर सकते हैं। वे कौंसिलों और उनके निर्वाचकों के अस्तित्व की उपेक्षा करके मंत्रिमंडलों पर अपना नियंत्रण रखने की कोशिश कर सकते हैं। वे अपने दल के कार्यकर्त्ताओं को, निश्चित कार्यक्रम से इधर-उधर करने पर, दण्ड दे सकते हैं। वे अपने लोगों को फटकार लगा सकते हैं या दल से बाहर निकाल सकते हैं और दूसरों को युद्ध के लिए आमंत्रण दे सकते हैं। व्यक्तियों का महत्व इतना बढ़ गया है कि यदि वे समझदारी, बुद्धिमत्ता, उदारता अथवा निस्स्वार्थता में चूक जायँ तो उनकी इस कमज़ोरी के फल-स्वरूप भारी तथा व्यापक हानि हो सकती है।

तानाशाही कार्यक्रम

यूरोप के तानाशाहों का अपने-अपने देश के मनुष्यों तथा साधनों पर अधिकार है। वे बड़े-बड़े कार्यक्रम तैयार करते हैं और भारी-भारी काम उठाते हैं। वे यूरोप और सारे संसार की कायापलट कर देने की

बात करते हैं। वे देशों की पुरानी सीमाओं को बदल देने की कोशिश करते हैं। भारत के भी कुछ राजनीतिज्ञ यूरोप के दृष्टान्तों से प्रभावित हो कर अब केवल सुधार और उन्नति के कामों के द्वारा जनता की प्रशंसा प्राप्त करने की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं होते। वे बड़े-बड़े मनसूबे बाँधने लगे हैं। वे समाज के जीवन को बिलकुल बदल देने, पुरानी राजनीतिक सीमाओं को तोड़ देने और नये-नये राष्ट्र अथवा संघ अथवा साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषाएँ रखते हैं।

आधुनिक प्रोपेगेंडा

तानाशाही मनोवृत्ति वालों को लोकतंत्र प्रणाली की निंदा करने अथवा हँसी उड़ाने में बड़ा आनंद मिलता है। परन्तु आज की तानाशाही के प्रोपेगेंडा में साधारण जनता को उत्तेजित अथवा उत्साहित करने और प्रसन्न रखने की जो कोशिश रहती है, वह इस बात का प्रमाण है कि उसकी दृष्टि में लोकमत को अपने साथ रखना कितना महत्वपूर्ण है। पार्लामेन्टरी प्रणाली का आधार विवेक और तर्क हैं, इस प्रकार की बातों में जनता का विश्वास जितना ही घटता है उतना ही तानाशाही का बल बढ़ता है। तानाशाही का प्रोपेगेंडा (प्रचार-कार्य) करने वाले समाचारपत्रों और सभा-मंचों का उपयोग करने के साथ ही पर्चों और पुस्तिकाओं के अतिरिक्त ऐसी पुस्तकें भी निकालते रहते हैं जो साधारण व्यक्ति को बड़ी विद्वत्तापूर्ण मालूम देती हैं। इन सब की सहायता से वे अपने अनुकूल लोकमत तैयार करते हैं और लोगों पर ऐसे सिद्धान्त लादते रहते हैं जो उनके लिए सुविधाजनक हों। फलस्वरूप यूरोप के आधुनिक राजनीतिक क्षेत्र में ऐतिहासिक तथा दार्शनिक कही जाने वाली बातों की बड़ी छीछालेदर हुई है और जाति, धर्म, संस्कृति, क़ौमियत, आर्थिक संघर्ष अथवा वर्ग विशेष के आधिपत्य के आधार पर पुनर्निर्माण करने का दावा करने वाली कच्ची और

अपरिपक्व आयोजनाओं की भरमार हो गई है। परिवर्तन के इस संकट-काल में यूरोप में—विशेष कर मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्रों में—अनगिनती विभिन्न स्वर सुनाई पड़ते हैं। यूरोप का जीवन परस्पर-विरोधी बातों, नये-नये प्रयोगों और पुराने प्रयोगों की पुनरावृत्तियों से ओतप्रोत है। जो लोग उस पर दृष्टि रखते समय अपने विवेक को सदा जाग्रत न रक्खेंगे या सदा इस बात को याद न रक्खेंगे कि चमक-दमक वाली सभी वस्तुएँ सुवर्ण नहीं होतीं, भारी धोखा खा जायँगे।

मुसलिम-सम्पर्क आंदोलन

विभिन्न देशों की बातों और घटनाओं का एक दूसरे पर कैसा प्रभाव पड़ता रहता है, इसका यह एक दृष्टान्त है कि भारतीय राजनीतिक क्षेत्र की हाल की घटनाओं में देश और विदेश के विचारों तथा आंदोलनों की छाया दिखाई पड़ती है। यदि हम इन्हें ध्यान में रक्खेंगे तो भारत की हाल की राजनीतिक धारा को समझने में आसानी होगी। जुलाई १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल बने। कांग्रेस ने जिस कार्यक्रम के आधार पर चुनाव जीता था वह मुख्यतः आर्थिक था और किसानों और मज़दूरों की भलाई को दृष्टि में रख कर बनाया गया था। महात्मा गांधी तो नहीं परन्तु कुछ अन्य नेताओं की दृष्टि समाजवाद पर भी लगी हुई थी। केन्द्र में संघ-सरकार की स्थापना सम्बन्धी प्रस्तावों पर अनेक ओर से आक्रमण हुए थे, फिर भी निकट भविष्य में उसके स्थापित हो जाने की आशा की जाती थी और वहाँ भी कांग्रेसी मंत्रि-मंडल बन जाने की सम्भावना थी। कांग्रेसी सरकार के समर्थकों का क्षेत्र बहुत संकुचित न रहे, इसलिए मुसलिम जनता को राजनीतिक स्वतंत्रता तथा आर्थिक सुधार के कार्यक्रम के आधार पर कांग्रेस की ओर खींचने के लिए मुसलिम-सम्पर्क आंदोलन का विचार उठा।

मुसलिम लीग के सामने यह स्थिति आ गई कि वह बहुत समय तक कई प्रान्तों में भी और केन्द्र में भी शासन-शक्ति के उपयोग में भाग न पा सकेगी। कांग्रेस के बड़े नेताओं ने अपने दल को जैसा सुसंगठित कर रक्खा था उसे देखते हुए इस बात की भी आशा नहीं की जा सकती थी कि कांग्रेसी दल टूट कर उसमें दो या दो से अधिक दल बन जायँगे और मुसलिम लीग उनमें से किसी एक के साथ सहयोग करके संयुक्त मंत्रि-मंडल बना सकेगी। और अब कांग्रेस साधारण मुसलिम जनता को अपनी ओर खींचने की आयोजना के द्वारा तो मुसलिम लीग की जड़ ही काट देने की कोशिश कर रही थी। यह सच है कि कांग्रेस उनकी आर्थिक अवस्था सुधारने का आश्वासन दे रही थी, लेकिन मनुष्य केवल रोटी खा कर जीवित रहना ही तो नहीं चाहता।

भविष्य की आशंका

इस प्रकार १९३७ में मुसलिम मस्तिष्क भविष्य की आशंका से चिंतित हो उठा। कांग्रेस के कतिपय प्रतीकों ने उसकी आशंका को और भी बढ़ा दिया। जहाँ कांग्रेसवादियों का बहुमत था वहाँ वे कुछ ख़ास इमारतों पर कांग्रेसी झंडा लगवाना तो चाहते ही थे, कौंसिलों के अधिवेशनों के प्रारम्भ के समय वे संस्कृत-गर्भित भाषा के "बंदेमातरम्" का गाया जाना भी आवश्यक समझते थे। कुछ समय के पश्चात मध्य प्रान्त की कांग्रेसी सरकार ने मुसलमानों के विरोध की अवहेलना करके एक विशेष कोटि के विद्यालयों को "विद्यामंदिर" नाम देने का हठ किया। यह शब्द संस्कृत का तो था ही, मूर्ति-पूजा के विरोधियों को "मंदिर" शब्द से ख़ास तौर पर चिढ़ हो सकती है। कांग्रेसी मंत्रिमंडल की इस आयोजना को रोकने के लिए मुसलमानों ने निष्क्रिय प्रतिरोध का सहारा लिया, तब जा कर उसने अपना विचार बदला। मुसलमानों को इस बात से नाराज़ी थी कि हिन्दू क्रमशः उर्दू को छोड़ते जा रहे हैं।

जब संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और बिहार के कुछ प्रमुख नेताओं ने उर्दू से भिन्न हिन्दी की वकालत की तो उनकी आशंका और भी बढ़ गई। बहुत से मुसलमान कांग्रेसी लोगों को हिन्दू-मुसलमानों की सभाओं में भी संस्कृतमयी हिन्दी में भाषण करते सुन कर चौंके। मुसलिम लीग में यह भावना बढ़ने लगी कि बहु-संख्यक समुदाय अल्प-संख्यक समुदायों को संतुष्ट रखने की परवाह नहीं करता। उसकी स्वयं अपनी देश-भक्ति की भावना तो क्षीण हो रही थी और सम्प्रदायवाद की भावना ज़ोर पकड़ रही थी, इसलिए जहाँ भी मतभेद की गुंजाइश होती थी वहाँ उसे मुसलिम संस्कृति का दमन करने तथा हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ने लगता था। जब किसी समुदाय की भावनाओं का आदर नहीं किया जाता और शासन तथा अधिकारों के उपयोग में उसे अपना वाजिबी हिस्सा नहीं मिलता, तो वह समग्र राष्ट्र के हिताहित के सम्बन्ध में उदासीन ही नहीं हो जाता, वह राष्ट्र का अंग-भंग करके भी बहु-संख्यक समुदाय से अलग हो जाने की बात सोचने लगता है। जिस बात से भी उसके आत्मसम्मान को धक्का लगता है और उसे यह भान होता है कि उसके अपने विचारों और भावनाओं का कोई महत्व नहीं है, उससे या तो अनैक्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और या विद्रोह की प्रवृत्ति को।

मुसलिम लीग विरोधी दल के रूप में

जब सन् १९३७ में छः प्रान्तीय कौंसिलों में मुसलिम लीग को मंत्रिमंडल के विरोधी दल का स्थान ग्रहण करना पड़ा और मंत्रि-मंडलों के मुसलिम सदस्यों की बाबत यह घोषणा करनी पड़ी कि वे मुसलमानों के प्रतिनिधि नहीं हैं, तब एक चिंताजनक परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। विभिन्न राजनीतिक दलों का अस्तित्व पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली का एक आवश्यक अंग है। लोकतंत्र और तानाशाही में यही

तो वास्तविक अंतर है कि एक में विभिन्न दलों के लिए स्थान है और दूसरे में नहीं। लोकतंत्र प्रणाली में विभिन्न राजनीतिक दलों के फल-स्वरूप सभी प्रस्तावों पर वाद-विवाद हो कर सब बातें जनता के सम्मुख आती रहती हैं और मंत्रिमंडलों में हेरफेर भी होते रहते हैं। परन्तु जब विभिन्न दलों के बीच राजनीतिक विचारों का नहीं बल्कि जाति और धर्म का अंतर हो तो उनके वाद-विवादों के फल-स्वरूप मनुष्य के हृदय में दबी रहने वाली सारी दुर्वृत्तियाँ जाग्रत हो उठती हैं। जब राजनीतिक दलों का धार्मिक अथवा जातीय भेदों के आधार पर निर्माण होता है, तो दंगों और गृहयुद्ध के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

चुनौती का जवाब

अधिकांश प्रान्तों में शुद्ध कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का निर्माण हो गया जिनके समर्थकों में हिंदुओं की संख्या बहुत अधिक थी और मुसलमानों की बहुत कम, केन्द्रीय सरकार में जो मंत्रिमंडल बनने को था उसमें भी मुसलिम लीग को हिस्सा मिल सकने की सम्भावना नहीं दिखाई पड़ रही थी, कांग्रेस अब मुसलमान जनता को भी अपने दल की ओर खींच लाने का प्रयत्न कर रही थी, इन सब बातों के फल-स्वरूप सन् १९३७ में मुसलिम राजनीतिक क्षेत्रों में घबड़ाहट फैल गई। मुसलिम लीग को यह मालूम हुआ कि विरोधी दल शक्ति के मद में मत्त हो कर उसे चुनौती दे रहा है। अब उसके साहस की परीक्षा का समय था और उसने चुनौती को स्वीकार कर लिया। संयुक्त प्रान्त में तथा अन्यत्र कौंसिलों के कुछ मुसलिम सदस्यों का स्थान रिक्त होने के फल-स्वरूप उप-निर्वाचनों में कांग्रेस और लीग की मुठभेड़ हुई और शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस का मुसलिम जनता को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयत्न तनिक भी सफल नहीं हुआ है। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों पर मुसलमानों पर अन्याय और अत्याचार करने तथा मुसलिम संस्कृति का दमन

करने के अभियोग निराधार थे, और फिर भी कांग्रेस के मुसलिम उम्मीद-वारों की चुनाव में पराजय रही, यह इसी बात का प्रमाण था कि मुसल-मानों में कांग्रेस के विरुद्ध नाराज़ी कितना ज़ोर पकड़ गई है। मुसलिम लीग ने मुसलमानों का एक झंडे की छाया में संगठन करने की कोशिश की, उनके एक मात्र प्रतिनिधि होने का दावा पेश किया और इसलिए कांग्रेस को हिन्दू संस्था घोषित करना शुरू किया। उसने यह माँग पेश की कि उसकी अनुमति के बिना देश के शासन-विधान में कोई सुधार न हो और यह कोशिश की कि जब तक उसके साथ संतोषजनक समझौता न हो जाय तब तक के लिए देश का राष्ट्रीय आंदोलन शक्तिहीन हो जाय।

१६४० में परिस्थिति

इस बात का रहस्य समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि यद्यपि कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने ढाई वर्ष के शासन में जनता को लाभ पहुँचाने वाले बहुत से कार्य किये, फिर भी उनका शासन-काल साम्प्रदायिक तनातनी का समय रहा। सितम्बर १६३६ में यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और नवम्बर में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस्तीफ़ा दे दिया, लेकिन अब भी परिस्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार स्वभावतः वाद-विवादों से अलग रह कर अपनी सारी शक्ति युद्ध सम्बन्धी कार्यों में लगाना चाहती थी, फिर भी उसकी घोषणाओं से, विशेष कर ८ अगस्त १६४० की इस घोषणा से कि देश की राज-नीतिक उन्नति विविध राजनीतिक दलों के समझौते पर निर्भर करेगी, उन लोगों की शक्ति बढ़ी जो राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने और इसके लिए मोल-भाव की नीति से काम लेने में प्रयत्नशील थे। सन् १६२७ से भारत का राजनीतिक वातावरण संरक्षणों, विशेष उत्तरदायित्वों, विशेष अधि-कारों, अधिक प्रतिनिधित्व आदि की आवाज़ों से गूँज रहा था। राजनीति

में बहुत अर्से से उबाल आया हुआ था और झूठी और सच्ची धमकियों का दौरदौरा था। भारतीय नरेशों की ओर से संघ-शासन के सम्बन्ध में कुछ ऐसे वक्तव्य निकले थे जो संघ-प्रणाली ही नहीं किसी भी शासन-प्रणाली के प्राथमिक सिद्धान्तों का ही गला घोंटने वाले थे। तेरह बरस से टालमटूल, झिझक, मोल-भाव और हठधर्मी की जो प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं उनकी बदौलत भारतीय राजनीति की स्थिति ऐसी हो गई थी कि न्याय की आवाज़ क्रमशः लुप्त हुई जा रही थी। अगर इस बाज़ारू शोर-गुल के वातावरण में मुसलिम लीग ने अपनी बात की सुनवाई के लिए अपनी आवाज़ ऊँची की, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। परन्तु परस्पर-विरोधी पुकारों के फल-स्वरूप जो घना कुहरा छाया हुआ था, उसके कारण वह ऐसी गली में घुस गई जिसमें दूसरी ओर से बाहर निकलने का रास्ता नहीं था। यह गली थी देश के विभाजन या पाकिस्तान की माँग।

देश के विभाजन में कठिनाइयाँ

भारत के उत्तरी-पश्चिमी कोने में मुसलमानों का एक पृथक राष्ट्र हो, यह विचार वैसे तो सन् १९१९ की उत्तेजना के समय से कुछ लोगों के दिमाग़ में अस्पष्ट रूप से घूम रहा था। सन् १९३१ में सार्वभौम-इसलामवाद के कवि सर मुहम्मद इक़बाल भी इसके समर्थक बन गये थे। साम्प्रदायिक तनातनी के फल-स्वरूप इस पर कुछ छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ भी निकलीं। अंत में मार्च १९४० में यह मुसलिम लीग के कार्यक्रम में भी आ पहुँचा। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के तर्क को उसकी चरम सीमा तक पहुँचाया जाय तो वह देश के विभाजन के निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, परंतु यदि भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के दो अलग-अलग राष्ट्र बनाने हों तो इसके लिए बहुत से लोगों को एक प्रान्त से हटा कर दूसरे प्रान्त में बसाने की आवश्यकता पड़ सकती है और

इस बात की कल्पना ही सब को भयभीत कर देने वाली है। पिछले महायुद्ध के पश्चात यूरोप के बालकन प्रायद्वीप के कुछ देशों में इस तरह की कोशिश की गई थी, और इसके फल-स्वरूप लोगों को इतना अधिक मानसिक क्लेश तथा आर्थिक कष्ट सहन करना पड़ा था कि उसका वर्णन कर सकना भी आसान नहीं है। देश का विभाजन करते समय लोगों को भारी तादाद में स्थानान्तरित कर सकना भी बड़ा कठिन है और आगे के लिए यह नियम बना सकना भी बड़ा कठिन है कि एक हिस्से के लोग दूसरे हिस्से में जा कर न बसें। इन दोनों कठिनाइयों के सामने देश के विभाजन की आयोजना तैयार करने वाले भी झिझक जाते हैं। और अगर वे इन बातों के लिए तैयार नहीं होते तो फिर विभाजन की आयोजना में बड़ी विचित्रता आ जाती है। पंजाब और बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक है, परंतु उनके अंदर ऐसे भी ज़िले हैं जिन में हिंदुओं की या सिक्खों की संख्या बहुत अधिक है। देश का दो भागों में विभाजन हो जाने पर दोनों भागों में दोनों सम्प्रदायों के लोग रहेंगे और विभाजन के समर्थकों के अनुसार वे अपने-अपने राष्ट्र की कौंसिलों के मेम्बरों का चुनाव पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के आधार पर ही करेंगे। अगर भारत को दो नहीं चार बल्कि बीस भागों में भी विभाजित कर दिया जाय और उनमें पृथक-निर्वाचन-प्रणाली जारी रक्खी जाय तो हर एक भाग के अन्दर गृह-युद्ध शुरू हो जायगा और इसके फल-स्वरूप ये नये-नये राष्ट्र आपस में भी लड़ जायँगे। अगर एक प्रान्त में अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के साथ अन्याय हो तो किसी दूसरे प्रांत में इस अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के सहधर्मी अपने यहाँ दूसरे सम्प्रदाय वालों के साथ अन्याय करें, विभाजन के समर्थकों की यह विचारधारा ही शांति तथा सद्भावना की घातक है। किसी के अपराध के लिए किसी और को दंड देने की बात का अर्थ है राजनीति को सभ्यता के स्तर से बर्बरता के स्तर पर ले आना। विभाजन की आयोजना के सम्बन्ध में

एक विचित्र बात और भी है। एक ओर तो यह दलील दी जाती है कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सद्भावना तथा सहयोग के अभाव के कारण देश का दो हिस्सों में विभाजन होना ज़रूरी है और दूसरी ओर साथ ही यह भी कहा जाता है कि ये दोनों हिस्से, हिंदुस्तान और पाकिस्तान, देश की विदेशियों से रक्षा करने के लिए सद्भावनापूर्वक सहयोग कर सकेंगे।

भारत की एकता

मुसलमानों का एक बड़ा समुदाय कठिनाई को हल करने के लिए ऐसी आयोजना पेश करता है जो प्रकृति, इतिहास तथा मनोविज्ञान की वास्तविकताओं के विरुद्ध है, यह यही ज़ाहिर करता है कि मुसलमानों के सम्मुख कैसी कठिन समस्या है।

पर्वतों तथा समुद्रों के द्वारा प्रकृति ने ही यह स्पष्ट निर्णय कर दिया है कि भारत एक देश होगा। किसी भी अन्य देश के सम्बन्ध में उसने इससे अधिक स्पष्ट निर्णय नहीं दिया है। भारत की इस भौगोलिक एकता का ही यह परिणाम है कि बड़ी-बड़ी दूरियों और गमनागमन तथा यातायात की भारी कठिनाइयों के रहते हुए भी भारत के इतिहास में उसके राजनीतिक एकीकरण के लिए सदा प्रयत्न होते रहे हैं। भारत के एक सागर-तट से ले कर दूसरे सागर-तट तक एक राष्ट्र की स्थापना के आदर्श का वैदिक काल ही में उदय होने लगा था। ईसवी सन् के पहले की तीसरी और दूसरी शताब्दियों में ही प्रायः समस्त भारत मौर्य्य साम्राज्य की छत्रछाया में एक हो गया था। ईसवी सन् के बाद चौथी और पाँचवीं शताब्दियों में गुप्त सम्राटों ने, चौदहवीं सदी में ख़िलजी और तुग़लक सुलतानों ने, और सत्रहवीं सदी में मुग़ल शहंशाहों ने फिर सारे भारत को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा था। भारत में कोई साम्राज्य कई शताब्दियों तक स्थिर नहीं रह सका, परंतु गमनागमन

तथा यातायात के साधनों में विज्ञान द्वारा महान परिवर्तन होने के पूर्व यह बात भारत ही क्या किसी भी देश में सम्भव नहीं थी। परंतु देश को राजनीतिक दृष्टि से एक बनाने का प्रयत्न करने वाली प्रवृत्तियाँ सदा जारी रहीं और उन्हें सांस्कृतिक भावना से बड़ी सहायता मिलती रही। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में एक ही राजनीतिक व्यवस्था के लिए स्थान है, और कलों के इस युग में यह बात और भी सत्य है। भारत के एक राष्ट्र होने पर ही उसमें रेलों, तारों और उद्योग-धंधों का समुचित विकास हो सकता है। भारत में खनिज पदार्थों और कच्चे माल का विभाजन भी इस प्रकार का है कि उसके विभिन्न भाग अपनी-अपनी उन्नति के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं। सीमा-प्रान्त और सिंध के सूबे तो अभी अपनी आमदनी और ख़र्च के सम्बन्ध में भी स्वावलम्बी नहीं बन पाये हैं और भारत सरकार से मिलने वाली आर्थिक सहायता से अपना काम चलाते हैं। सीमा-प्रान्त, सिन्ध, पंजाब और बंगाल की वर्तमान आय मिल कर भी इतनी ही है कि उन्हें अपने लोकोपयोगी महकमों की वृद्धि करने ही में कठिनाई होगी, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमाओं पर क़िलेबन्दी करने और सीमा-प्रान्त की विदेशी आक्रमण से रक्षा की व्यवस्था करने का ख़र्चा तो और भी बड़ी बात है। हिन्दुस्तान से अलग होने पर केन्द्रीय सरकार के ऋण का जो भाग उनके हिस्से में पड़ेगा, वही एक भारी बोझा होगा।

सैनिक दृष्टि से

अगर युद्ध-काल की सम्भावनाओं की दृष्टि से देखा जाय तो भारत के लिए एक केन्द्रीय सरकार का होना वांछनीय ही नहीं आवश्यक मालूम देगा। वर्तमान महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि छोटे और मध्यम आकार के राष्ट्र अपनी रक्षा नहीं कर सकते, और इसलिए इस बात की बहुत सम्भावना है कि युद्ध के पश्चात संसार का झुकाव बड़े

राष्ट्रों की ओर होगा और छोटे राष्ट्रों को अपने संघ बना कर बड़े बनना पड़ेगा। अब छोटे राष्ट्रों का युग समाप्त हो चुका, क्योंकि वर्तमान युद्धों के लिए बड़ी सेना, भारी ख़र्चे, बड़े-बड़े कारख़ानों और बहुत सी युद्ध-सामग्री की आवश्यकता होती है। आज का युद्ध देशों का नहीं, साम्राज्यों और महाद्वीपों का युद्ध है। वह विश्वव्यापी जैसा है और संसार के किसी भी भाग तक पहुँच सकता है। यूरोप और जापान वालों को उपनिवेशों का ऐसा मोह हो गया है कि वर्तमान महायुद्ध की समाप्ति के बाद फिर ऐसे ही या इससे भी अधिक भयानक युद्ध छिड़ सकते हैं। अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का क्षेत्र पूर्व की ओर बढ़ आया है। अब प्रशान्त महासागर का महत्व अटलांटिक महासागर से भी बढ़ गया है और प्रशान्त की लहरें संयुक्त राष्ट्र, कनाडा, जापान, चीन, रूस, आस्ट्रेलिया और भारत जैसे बड़े-बड़े राष्ट्रों के किनारों को स्पर्श करती हैं। इस महासागर में निकट अथवा सुदूर भविष्य में ऐसे संघर्ष हो सकते हैं जिनके द्वारा मानव जाति के ही भविष्य का निर्णय हो सकता है। अगर भारत के द्वार पर विश्वव्यापी महायुद्धों की सम्भावना है, तो उसे अपनी रक्षा के लिए शस्त्रों तथा साधनों के सम्बन्ध में अधिकाधिक मात्रा में स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। उसकी सरकार ऐसी होनी चाहिए जो देश के समस्त बाहुबल और समस्त बुद्धिबल को बटोर कर और कल-कारख़ानों की ज़्यादा से ज़्यादा तरक्क़ी करके उसकी रक्षा कर सके। अगर भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में या बंगाल में कोई छोटा स्वतन्त्र राष्ट्र हो तो ज़बर्दस्त आक्रमण होने पर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा और उसकी बदौलत बाक़ी हिंदुस्तान की रक्षा की भी समुचित व्यवस्था न हो सकेगी। अगर यह कहा जाय कि भारत में एक से अधिक राष्ट्र तो रहेंगे परन्तु उनके बीच युद्ध काल ही में नहीं बल्कि स्थायी रूप से सहयोग रहेगा, तो इसका अर्थ यह होता है कि उनकी सेनाओं, जल-सेनाओं, आकाश-सेनाओं, रेलों, सड़कों, तारों, कल-कारख़ानों, आदि अनेक साधनों को

देश के विभाजन में कोई आकर्षण न दिखाई देगा, क्योंकि अगर एक देश के दो देश हो गये तो उनके बीच वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में भी प्रतिबन्ध लग सकते हैं और यह उनकी दृष्टि से अच्छा न होगा। जिन अल्प-संख्यक सम्प्रदायों की संख्या मुसलमानों से भी कम है उन्हें भी यह बात पसन्द नहीं हो सकती कि वे एक राष्ट्र के बजाय दो राष्ट्रों में बँट जायँ। "बिना पाकिस्तान के स्वराज्य न हो" का नारा लगाने वाले ग़ैर-मुसलिम लोगों की बाबत या तो यह समझते हैं कि उनमें समझदारी की कुछ कमी है और या यह कि वे स्वराज्य के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली के फल-स्वरूप जिस प्रकार सन् १९३७ में कांग्रेसवाले मुसलमानों की भावनाओं को पूरी तरह नहीं समझ पाये थे, उसी प्रकार अब मुसलिम लीग वाले यह नहीं महसूस कर सके हैं कि देश में देशभक्ति की भावना कितनी प्रबल हो चुकी है और इस भावना का आधार है देश की एकता की भावना। यदि देश के विभाजन की कोशिश की गई तो हिन्दुओं तथा कुछ अन्य लोगों के सिवाय सिक्ख लोग उसका कैसा घोर विरोध करेंगे, इसकी कल्पना भी चित्त को अस्थिर कर देने वाली है। विभाजन के मार्ग में एक और कठिनाई यह है कि सिंध,- पंजाब और बंगाल से लगे हुए, और पंजाब और बंगाल के अंदर भी, ऐसे देशी राज्य मौजूद हैं जिनके राजे-महाराजे हिन्दू हैं।

ब्रिटिश सरकार का रुख़

ब्रिटिश सरकार भी भारत के विभाजन के प्रस्ताव का समर्थन न कर सकेगी। राष्ट्रों की वैदेशिक नीति में परिवर्तन होते रहते हैं। छोटे-छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता के प्रति सभ्य संसार को जो सम्मान की भावना पहले थी वह अब नहीं रह गई है। अप्रैल १९४० से अब तक अनेक छोटे राष्ट्रों पर अकारण आक्रमण हो चुके हैं, परन्तु इन आक्रमणों की उतनी निंदा नहीं हुई है जितनी अगस्त १९१४ में बेलजियम पर होने वाले

अकारण आक्रमण की हुई थी। अब तो यह विचार ज़ोर पकड़ रहा है कि पड़ोसी राष्ट्रों को आपस में मिल कर अपने संघ बना लेने चाहिएँ। जून १९४० में जिस समय जर्मन आक्रमण के फल-स्वरूप फ्रान्स के पैर डगमगा रहे थे, उस समय ब्रिटेन ने उससे ब्रिटेन और फ्रान्स का संघ बनाने का प्रस्ताव किया था, जिसका आशय यह था कि दोनों देशों के नागरिकों को दोनों देशों के अंदर बराबरी के अधिकार रहेंगे। अब तो ब्रिटेन और अमरीका का एक संघ बनाने का भी प्रश्न उठाया जाने लगा है। अगर भारत एक राष्ट्र हो तो उसके पास इतने सैनिक और साधन होंगे कि अफ़ग़ानिस्तान या रूस या दूसरे पड़ोसी राष्ट्र उससे युद्ध छेड़ने में हिचकेंगे। परन्तु अगर पाकिस्तान अलग से एक छोटा राष्ट्र बन जायगा तो उन्हें यह झिझक न रहेगी। इसके बजाय यह भी सम्भव है कि पाकिस्तान अपने उत्तरी-पश्चिमी पड़ोसियों के साथ किसी तरह का नाता जोड़ने की कोशिश करे। ब्रिटेन का जब तक भारत के साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध रहेगा, चाहे वह सम्बन्ध साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य के आधार पर हो और चाहे मित्रतापूर्ण संधि के आधार पर, तब तक पाकिस्तान का अपने पड़ोसियों से झगड़ना भी और नाता जोड़ना भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिए एक चिंता का ही विषय होगा। पिछले सौ वर्ष से भी अधिक समय से ब्रिटेन भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रदेश के सम्बन्ध में सदा अत्यन्त सतर्क रहा है।

ब्रिटेन के एशिया में जो हिताहित हैं उनसे भारत के विभाजन की बात मेल नहीं खाती। हाँ, यह कहा जा सकता है कि पिछले दस वर्षों में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने बार-बार ब्रिटिश साम्राज्य का हिताहित समझने में भूल की है—सन् १९३१ में उन्होंने जापान के मंचूरिया-आक्रमण का विरोध नहीं किया, १९३६-३८ में स्पेनिश प्रजातंत्र का नाश हो जाने दिया, रूस में अपने प्रति नाराज़ी बढ़ने दी और १९३८ में

चैकोस्लोवेकिया का अंग-भंग हो जाने दिया—और इस प्रकार की भूल वे फिर भी कर सकते हैं। परन्तु अपनी पिछली भूलों का नतीजा भुगत चुकने के बाद भविष्य में ब्रिटिश मंत्रिमंडलों को अधिक सतर्क होना पड़ेगा। हाँ, यह बात असम्भव तो नहीं है कि विभाजन का समर्थन करने वाली शक्तियाँ इतनी प्रबल हो जायँ कि विभाजन हो कर ही रहे, परन्तु अगर हो भी जाय तो वह स्थायी तो कदापि नहीं हो सकता। यह मनुष्य के वश से बाहर की बात है कि जो भूभाग भौगोलिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से एक है उसे टुकड़े-टुकड़े कर दे, उन टुकड़ों को मनमाने ढंग से जोड़ दे और यह नई व्यवस्था स्थायी हो जाय। विभाजन की क्रिया की देशी राज्यों में तो प्रतिक्रिया होगी ही, वह स्वयं पाकिस्तान को भी तोड़ कर ही रहेगी। यदि देश टुकड़े-टुकड़े हो कर फिर अठारहवीं बल्कि ग्यारहवीं सदी वाली हालत को पहुँच जाय तो एकीकरण की प्रवृत्तियों को, जो सदा मौजूद रही हैं, फिर एक बार अपना काम कर सकने का मौक़ा मिल जायगा। पाकिस्तान स्थायी नहीं हो सकता। आगे चल कर ऐसा समय आ सकता है कि भारत एक राष्ट्र के रूप में पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों के साथ, या इस समय "मित्र-राष्ट्र" कहलाने वाले राष्ट्रों के साथ, या संसार भर के राष्ट्रों के साथ मिल कर एक राष्ट्र-संघ का सदस्य बन जाय। परन्तु भारत के स्थायी विभाजन की कल्पना तो वैसी ही है जैसी हिमालय पर्वतमाला का पुनर्विभाजन करने, या इतिहास को मिटा देने, या देशभक्ति की भावना को नष्ट कर देने, या आधुनिक युग की अपनी विशेषता को आमूल उखाड़ फेंकने की कल्पना करना। अगर भारत के विभाजन की एक अस्थायी व्यवस्था के रूप में भी कल्पना की जाय तो भी उसका अर्थ यही हो सकता है कि जब तक वह रहेगा तब तक ब्रिटिश सेना रहेगी, और इसके फल-स्वरूप भारत के दोनों राष्ट्रों की वैदेशिक नीति, उनके आर्थिक जीवन, बल्कि शासन के सभी महत्वपूर्ण विभागों पर ब्रिटेन का नियंत्रण रहेगा।

देश के विभाजन की बात एक प्रगति-विरोधी कल्पना है। उसका उदय इसी कारण हो सका कि तेरह वर्ष से प्रगति रुकी हुई थी। यदि वास्तव में विभाजन हो जाय तो देश की प्रगति रुक जायगी। परन्तु यदि कोई ऐसी बात है जिसे सभ्यता अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती तो वह है प्रगति का रुक जाना। सभ्यता में जो प्रगति की प्रवृत्ति है वह शीघ्र ही सजीव हो उठती है और विघ्न-बाधाओं को तोड़-फोड़ कर उसे पथ पर अग्रसर कर देती है।

पाकिस्तान की चेतावनी

देश के विभाजन से भारत की समस्या हल नहीं हो सकती। यह बात कुछ विचित्र भले ही मालूम दे परन्तु है सच्ची कि इसकी कल्पना ही परिस्थिति की घोर वास्तविकता का सामना करने के बजाय उससे भागने की प्रवृत्ति का परिणाम है। देश में एक शताब्दी तक पुनरुत्थानवाद का दौरदौरा रहा, एक पीढ़ी तक पृथक-निर्वाचन-प्रणाली ने अपना काम किया, आधी पीढ़ी तक टालमटूल की नीति चली, दस वर्ष तक विदेशों की घटनाओं का ठीक-ठीक रहस्य न समझ सकने के कारण उनका अवांछनीय प्रभाव पड़ता रहा और ढाई वर्ष तक पार्लामेन्टरी शासन-प्रणाली की पुरानी परम्पराओं का पालन किया गया—इन सब बातों का परिणाम है पाकिस्तान की उद्भावना। वह पृथक्करण के द्वारा निश्चितता प्राप्त करने के मार्ग की एक मंज़िल है। वह अब तक बरती गई पृथक-निर्वाचन-प्रणाली की असफलता की घोषणा है। तर्क की कसौटी पर वह एक अधूरी आयोजना है। यदि उसे कार्य-रूप में परिणत किया गया तो मनुष्यों को भारी संख्या में एक स्थान से हटा कर दूसरे स्थान में बसाने की कोशिश लाज़मी हो जायगी और अंत में इस बात के लिए संघर्ष छिड़ कर रहेगा कि या तो मुसलमानों का हिंदुओं पर और या हिंदुओं का मुसलमानों पर आधिपत्य स्थापित हो जाय। यह

बिलकुल असम्भव बात है और तब पृथक्करण की उस गली का सिरा आ जायगा जिसकी बाबत हम कह चुके हैं कि उसमें दूसरी ओर से बाहर निकल सकने का मार्ग नहीं है। फिर पीछे लौटने के सिवाय कोई दूसरा मार्ग न रह जायगा। ये सब केवल कल्पना-जगत की बातें नहीं हैं। ये देश के विभाजन की आयोजना के अवश्यम्भावी पहलू हैं। अगर इनकी ओर ध्यान नहीं गया है तो उसका एक मात्र कारण यही है कि देश की राजनीतिक परिस्थिति पर घना कुहरा छाया हुआ है। जब कुहरा हट कर आकाश साफ़ हो जायगा और वास्तविकता दिखाई पड़ने लगेगी, तब दोनों सम्प्रदाय वालों की समझदारी और घटनाओं के दबाव के फल-स्वरूप देश की राजनीति एक नई दिशा में चल पड़ने की बहुत सम्भावना है। पाकिस्तान के समर्थक चाहे वास्तव में देश का विभाजन चाहते हों और चाहे इस धमकी के द्वारा देश की राजनीतिक शक्ति के बँटवारे के सम्बन्ध में मोल-भाव करना चाहते हों, जब तक यह प्रस्ताव या आंदोलन जनता के सम्मुख रहेगा तब तक उसके कारण आपसी मनमुटाव बढ़ते रहने का ख़तरा बना रहेगा। किसी भी राजनीतिक विचार का प्रचार करने के लिए एक विशेष प्रकार के प्रोपेगेंडा की आवश्यकता पड़ती है और कभी-कभी तो उसके फल-स्वरूप कार्य-क्रम में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। अगर देश के विभाजन के पक्ष में प्रोपेगेंडा करना है तो स्वभावतः हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जिन-जिन बातों में भी मतभेद या भिन्नता है उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करके उनका महत्व बढ़ाना ज़रूरी हो जाता है। इससे करोड़ों मनुष्यों की देशभक्ति की भावना को धक्का लगता है और उनके हृदय में कटुता उत्पन्न होने लगती है। समझौते का मार्ग कठिन हो जाता है। आज की परिस्थिति में सन् १६१६ बल्कि १६३० की भी परिस्थिति से सबसे बड़ा अन्तर यही है कि आज समझौते की प्रवृत्ति या इच्छा कमज़ोर हो गई है और यह वास्तव में एक चिंताजनक बात

है। अपने राजनीतिक दल की शक्ति बढ़ाने के लिए पृथक्करण के पक्ष के तर्कों का आश्रय लेने में एक ख़तरा और भी छिपा रहता है। राजनीतिक अनुभव से शून्य और अपरिपक्व मस्तिष्क वाले लोगों में, जिन की संख्या बहुत अधिक है, इन तर्कों के फल-स्वरूप इतनी उत्तेजना फैल सकती है कि नेता लोग अपने हाथ से तैयार की गई जंजीरों में ख़ुद ही बँध जायँ और चाहने पर भी पीछे न लौट सकें। मुसलिम लीग जैसी एक प्रमुख राजनीतिक संस्था का पाकिस्तान के विचार को अपना लेना, एक ऐसी बात है जिससे दूसरे लोगों को चिंता होना स्वाभाविक है। हिंदुओं के लिए यह इस बात की दुःखद चेतावनी है कि उन्हें अपनी गति-विधि पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और अपनी उन बातों को बदल लेना चाहिए जिनके कारण दूसरे लोग उनकी नीयत पर संदेह करते हैं और निश्चिंत नहीं रह सकते। यह ऐसी दवा ढूँढ निकालने के कर्तव्य की चेतावनी है जिससे देश के राजनीतिक जीवन के सब रोग दूर हो जायँ और सब समुदायों तथा सम्प्रदायों के लोग शान्ति और स्वतंत्रता के वायुमंडल में साँस ले सकें।

द्वितीय खंड

इलाज

चौथा अध्याय

उन्नति के पथ पर

हिंदू-मुसलिम समस्या के तीन पहलू

सभ्यता निस्सन्देह प्रगतिशील है, परन्तु सभ्यता-रूपी रथ के पहिये ठीक से तभी चलते हैं जब उसके अन्दर बोझा एक ओर कम और दूसरी ओर अधिक न हो और रास्ते में आने वाली रुकावटें दूर कर दी जायँ। सभ्यता बहुत से विचारों, भावनाओं, परम्पराओं, संस्थाओं तथा साधनों का सम्मिश्रण है और इसलिए बड़ी जटिल पहेली है। अगर उसके इन विभिन्न अङ्गों के बीच सामंजस्य हो तब तो ठीक है और उसकी प्रगति शान्तिपूर्ण रहती है। परन्तु अगर यह सामंजस्य बिगड़ गया, किसी एक का बल आवश्यकता से अधिक बढ़ गया और किसी दूसरे का बहुत अधिक घट गया, या अगर आगे बढ़ने के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित हो गई, तो फिर सभ्यता की शक्तियाँ स्वयं अपने लिए ही हानिकारक बन जाती हैं और सामाजिक व्यवस्था को अस्तव्यस्त करने लगती हैं। जब देश के आन्तरिक जीवन में संघर्ष बढ़ने लगता है तो इसका वास्तविक कारण असफलता तथा निराशा की बदौलत पैदा होने वाली कटुता होती है। असफलता तथा निराशा के वातावरण ने भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो समस्या उत्पन्न कर दी है उसके तीन पहलू हैं। एक पहलू के अन्दर तो वे बातें आती हैं जो स्वयं ही हल हो कर भूली हुई बातें बन सकती हैं। दूसरे पहलू में संस्कृति सम्बन्धी बातें आती हैं जिनमें से कुछ तो अपने आप हल हो सकती हैं और कुछ के बारे में समझौता करना पड़ेगा।

तीसरा पहलू राजनीतिक प्रश्नों का है जिनको हल करने के लिए समझौता ही सब से अच्छा ढंग है। इस प्रकार हिंदू-मुसलिम समस्या के इलाज के भी तीन पहलू हैं—राजनीतिक प्रश्नों पर फ़ौरन समझौता करना पड़ेगा, कुछ समस्याएँ देश की सर्वाङ्गीण उन्नति के साथ धीरे-धीरे हल होती रहेंगी, और इस बीच सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता होगी। जीवन की एकता को स्थिर रखने के लिए इन विभिन्न प्रश्नों को एक साथ ही हाथ में लेना होगा और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। मनुष्य की प्रत्येक समस्या एक विशेष वातावरण की एक घटना मात्र होती है, अगर वातावरण को बदल दिया जाय तो समस्या का रूप भी बदल जाता है। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में कैथलिक और प्राटेस्टेन्ट ईसाई फ़ान्स में एक दूसरे से लड़ते रहते थे और ब्रिटेन में एक दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते रहते थे, परन्तु अठारहवीं शताब्दी में इन देशों के बौद्धिक वायुमंडल और आर्थिक जीवन में परिवर्तन होने का परिणाम यह हुआ कि इन दोनों सम्प्रदायों के लोग सद्भावना-पूर्वक साथ-साथ रहने लगे। उनके झगड़े समझौते के द्वारा तै नहीं हुए। दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने के कारण वे स्वयं ही हल हो गये और कुछ समय बाद लोग उन्हें भूल गये। कोई सरकार क़ानून बना कर लोगों को पारस्परिक सद्भावना और हेल-मेल के साथ रहना नहीं सिखा सकती, परन्तु सरकारी और ग़ैरसरकारी संस्थाएँ मिल कर अशिक्षा, निरक्षरता, अस्वस्थता, रोग, निर्धनता, जन्मजात असमानता आदि उन बातों को दूर करने की कोशिश कर सकती हैं जिनके कारण लोगों के दिमाग़ों में ईर्ष्या और छोटेपन की भावनाएँ बढ़ती हैं, उनका दृष्टिकोण संकीर्ण बनता है और उनके बीच झगड़े बढ़ते हैं। वे पारस्परिक सह-योग द्वारा इस बात का प्रयत्न कर सकती हैं कि सब लोग शिक्षा पा सकें, उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो और उन्हें जीवन-संग्राम में

समानता का अवसर मिले। ऐसा होने से उनका बौद्धिक और आध्यात्मिक वातावरण बदल जायगा, उनके दृष्टिकोण में उदारता आ जायगी और समाज में संघर्ष की कमी हो कर सामंजस्य की वृद्धि होगी। जिस प्रकार मनुष्य के स्वास्थ्य में सुधार होने से बहुत से रोग अपने-आप भाग जाते हैं, उसी प्रकार समाज की सर्वांगीण उन्नति होने पर संघर्ष के अनेक कारण अपने आप लुप्त हो जाते हैं।

सामाजिक न्याय

जनता का जीवन शान्त और सुखी हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज में न्याय की भावना प्रगतिशील बनी रहे, जिसका अर्थ यह है कि लोगों को अपना जीवन सफल और सुखी बनाने के लिए, जहाँ तक सम्भव हो, अधिक से अधिक सुविधाएँ मिलती रहें और वे सब को समान रूप से मिलें। यदि सब को समान रूप से अवसर नहीं मिलता तो ईर्ष्या और संघर्ष की, आधिपत्य और पराधीनता की उत्पत्ति होती है। अगर उन्नति कर सकने के लिए यथेष्ट अवसर नहीं मिलता तो समाज का जीवन निम्न स्तर पर रहता है और व्यक्तियों के बीच सदा अवांछनीय छीनाझपटी और तनातनी बनी रहती है। समाज-संगठन का सब से महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि सब लोगों को आत्म-विकास का समान अवसर प्राप्त हो और इस अवसर की मात्रा समाज के साधनों को देखते हुए यथासम्भव अधिक हो। व्यक्ति को जितना अधिक अवसर मिलेगा उतनी ही अधिक वह उन्नति कर सकेगा। आज भारत ही में नहीं, संसार भर में जिस बात को समझ लेने की सब से अधिक आवश्यकता है वह यह है कि आधुनिक विज्ञान ने स्थिति में ऐसी क्रान्ति कर दी है कि संसार की कायापलट हो सकती है। विज्ञान की बदौलत संसार के इतिहास में पहली बार यह बात सम्भव है कि सब मनुष्य शिक्षित हो सकें, निर्धनता और अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सकें, अत्यधिक परिश्रम और

कष्ट से छुट्टी पा सकें और यथेष्ट अवकाश का उपभोग करते हुए सुख और सुविधा का जीवन बिता सकें। मनुष्य इस बात को जितनी अच्छी तरह समझ सकेगा उतनी ही उसकी प्रवृत्ति युद्ध और संघर्ष से हट कर सहयोग तथा सद्भावना की ओर झुकेगी। परन्तु साथ ही इस बात को भी समझ लेने की आवश्यकता है कि यद्यपि लोक-हित की ये सब बातें सम्भव हो गई हैं परन्तु उनका कार्य रूप में परिणत हो सकना इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य उनके अनुकूल अपना संगठन कर सके और अपने दृष्टिकोण में तदनुकूल आदर्शवादिता ला सके। कोई देश सामाजिक न्याय के आदर्श से कितना दूर या निकट है, इसकी कसौटी आधुनिक युग में यही हो सकती है कि वह इस परिस्थिति को लाने के लिए कहाँ तक प्रयत्नशील है।

आत्मविकास

जितना ही सब व्यक्तियों को—पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों, सभी को—अपने व्यक्तित्व का, अपनी योग्यताओं का, विकास कर सकने का अधिक अवसर मिलेगा, उतना ही समाज का जीवन उच्च स्तर की ओर अग्रसर होगा। व्यक्तित्व का विकास एकान्त में नहीं समाज में रह कर ही होता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि व्यक्तियों के विकास के साथ-साथ उनके बीच पारस्परिक सहयोग भी बढ़ता रहता है और समाज-संगठन अधिकाधिक सहयोग के अनुकूल रूप धारण करता रहता है। सामाजिक सद्भावना और व्यक्ति का विकास साथ-साथ बढ़ते रहते हैं। सारांश में एक ओर मनुष्यों की योग्यता तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, दूसरी ओर वे अधिकाधिक मात्रा में एक दूसरे की सहायता करना सीखते हैं, जिसके फल-स्वरूप उनके बीच हसद, जलन और बदगुमानी घटती है। इसके विरुद्ध अगर मनुष्यों को उन्नति करने का, अपना जीवन उच्चतर बनाने का अवसर नहीं मिलता, तो वे अनिच्छा-

पूर्वक निम्न स्तर के जीवन से संतोष कर लेते हैं, उनकी महत्वाकांक्षाएँ दब जाती हैं, और वे छोटी-मोटी वस्तुओं के लिए ही आपस में छीना-झपटी करने की प्रवृत्ति के वशवर्त्ती हो जाते हैं। आज भारत इसी रोग से पीड़ित है और कम या अधिक मात्रा में यह बात संसार के सभी देशों के लिए लागू है। इसीलिए इतना संघर्ष है और व्यर्थ का वाद-विवाद है। इस समस्या को हल करने का यही उपाय है कि देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया जाय।

सार्वजनिक शिक्षा

सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए, अर्थात् लोगों को आत्मोन्नति के लिए अधिक से अधिक और समान रूप से अवसर देने के लिए, सब से आवश्यक बात सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था है। आधुनिक युग में शिक्षा थोड़े से लोगों की एक सुख-सामग्री नहीं है बल्कि सभी के लिए एक आवश्यक वस्तु है। बिना सब लोगों में शिक्षा का प्रचार हुए न तो उद्योग-धन्धों की उन्नति हो सकती है, न लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकता है, न वे नागरिकता के कर्तव्यों अथवा अधिकारों को समझ सकते हैं। जनता की अशिक्षा विरोध की पुरानी भावनाओं को मिटने नहीं देती, उसके नेताओं को भी नीचे की ओर घसीटती रहती है, आंदोलन चलाने में चालाकी से काम लेने वालों को सफलता प्राप्त करने का अवसर देती है और उन्नति के मार्गों को रोक देती है। वह मनुष्य के मस्तिष्क को छोटे से पिंजड़े में क़ैद कर देती है और उसे सार्वजनिक प्रश्नों पर उदार अथवा व्यापक दृष्टिकोण से विचार नहीं करने देती। सन् १९३१ में भारत की आबादी ३५ करोड़ थी और यह संख्या संसार भर की जन-संख्या का प्रायः पंचमांश थी परन्तु संसार भर के निरक्षर लोगों में से पूरे तिहाई लोग भारत में थे। सन् १९४१ में भारत में साक्षर लोगों की संख्या ४ प्रतिशत से कुछ कम

थी, १६११ में ६ प्रतिशत, १६२१ में ८ प्रतिशत, और १६३१ में ८॥ प्रतिशत। आज भी वह १० प्रतिशत से कुछ कम ही है। साक्षरता की यह प्रगति इतनी धीमी है कि दस बरस में केवल १ प्रतिशत की वृद्धि हो पाती है। अगर यही चाल रही तो भारतवासियों को शत-प्रतिशत साक्षर बनने में छः सौ या सात सौ वर्ष लग जायँगे। यह कैसी दुःखद घटना है कि जो बात आधुनिक परिस्थिति में एक पीढ़ी के अंदर हो सकती है उसे करने के लिए बीस पीढ़ी से अधिक का समय चाहिए! जिस शासन-प्रणाली में इस तरह के दक़ियानूसीपन के लिए गुंजाइश है, उसमें शीघ्र परिवर्तन होने की आवश्यकता है ताकि वह आधुनिक काल की आवश्यकताओं के अनुकूल बन सके। चाहे जो सरकार हो, लोकमत का सब से पहला काम यह होना चाहिए कि वह उसे सब लोगों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए मजबूर करे। अगर हम इस बात पर विचार करेंगे कि मनुष्यों के मस्तिष्कों के पारस्परिक सम्पर्क तथा सम्बन्ध का ही नाम समाज है, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि शिक्षा से पूरा-पूरा लाभ तभी होता है जब वह बूँद-बूँद करके टपकने के बजाय शीघ्रता से सब लोगों तक पहुँचने की कोशिश करती है। भारत में शिक्षा का विस्तार इतनी मन्द गति से हुआ है कि अल्प-संख्यक शिक्षित समुदाय बहुसंख्यक अशिक्षित समुदाय को अपना जैसा बना सकने के बजाय स्वयं ही उस जैसा बन जाता है और देश में फैली हुई अशिक्षा-जनित मूर्खता की भावनाएँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। शिक्षा-प्रचार की धीमी चाल में डर की एक बात और भी है। विद्या-बुद्धि का इतना अधिक अन्तर रहने के कारण शिक्षित वर्ग अपने को शासक वर्ग बनाने की कोशिश कर सकता है। जब विज्ञान ने समाज के साधनों को इतना बढ़ा दिया है तब भी अगर कोई सरकार देश के हर एक बच्चे को शिक्षा देने तथा निरक्षर वयस्कों को साक्षर बनाने का प्रबन्ध नहीं कर सकती, तो यही कहना पड़ेगा कि या तो उसमें बुद्धि की भारी कमी है और या वह जनता को

शिक्षित बनाना ही नहीं चाहती। सभ्यता के लाभों को मनुष्यों तक पहुँचाने के लिए शिक्षा-प्रचार से अधिक उपयोगी साधन कोई दूसरा नहीं है।

शिक्षा में सुधार

शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाना ही नहीं है, शिक्षा-प्रणाली में सुधार की भी आवश्यकता है। अक्सर यह देखा गया है कि बहुत से लोगों के विचार करने के ढंग पर शिक्षा का प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और वे शिक्षा के फल-स्वरूप न तो पुरानी रूढ़ियों से ही मुक्ति प्राप्त करने में सफल होते हैं और न इसी योग्य बन पाते हैं कि किसी के प्रोपेगेंडा के जाल में न फँसें। आधुनिक काल में शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने के लिए मनोविज्ञान से बहुत कुछ सहायता ली गई है। भारत में इस प्रकार के सुधार की विशेष रूप से आवश्यकता है। पश्चिमी देशों में जिन नये-नये ढंगों का उपयोग किया जा रहा है, उन सब से भारत को भी लाभ उठाना चाहिए और स्वयं भी नये-नये प्रयोग करने चाहिएँ। ज़रूरत इस बात की है कि विद्यार्थी विद्यालय में पढ़ते समय आज-कल की अपेक्षा अधिक ज्ञान भी प्राप्त कर सके, दस्तकारी या दस्तकारियों के द्वारा अपने हाथों का उपयोग करना भी सीख सके और अपने मस्तिष्क का विकास भी कर सके। ज्यों-ज्यों सभ्यता की उन्नति होती है, मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान का संचित कोष भी बढ़ता जाता है और विद्यार्थी का भार भी। यह कार्य विद्यालय का है कि वह अपने विद्यार्थियों का इस कोष से परिचय करा सके और उन्हें आधुनिक जगत में अपना स्थान ग्रहण करने के योग्य बना सके। यदि विद्यालयों में वैज्ञानिक शिक्षा-प्रणालियों से काम लिया जाय और शिक्षा देने वाले अध्यापक भली भाँति सुशिक्षित तथा मनोविज्ञान के ज्ञाता हों, तो विद्यालयों से निकलने वाले विद्यार्थियों में विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकने या कला-कारीगरी सीख सकने या जीवन में

प्रवेश कर सकने की क्षमता आज-कल की अपेक्षा कहीं अधिक होगी। इन विद्यालयों का प्रभाव ऐसा होना चाहिए कि उनके विद्यार्थी अपने मस्तिष्क को मुक्त कर सकें, विभिन्न बातों को उनका उचित महत्व देना जानें और साम्प्रदायिक तथा अन्य समस्याओं के प्रति समझदारी का दृष्टिकोण रख सकें। सभ्यता उच्च स्तर पर तभी रह सकती है जब विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में सामाजिक भावनाओं को सुसंस्कृत और विकसित करके आगे बढ़ाने की शक्ति हो।

संसार की बात

शिक्षा का एक वातावरण होता है जिसका विद्यार्थी पर बड़ा असर पड़ता है। अब तक जैसी हालत रही है उसमें इस बात से काम चल जाता था कि विद्यालयों की पढ़ाई में उनके देश की बातों की ही विशेष चर्चा रहती थी। परन्तु अब विज्ञान की उन्नति ने संसार के विभिन्न भागों के बीच पहले की अपेक्षा बहुत अधिक सम्पर्क स्थापित कर दिया है। अब शिक्षा में इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि उसमें देश की ही नहीं संसार की भी काफ़ी चर्चा रहे। इससे यह लाभ होगा कि विद्यार्थी के मस्तिष्क पर जाति-पाँति, सम्प्रदाय, पुनरुत्थानवाद, प्रान्तीयता आदि का प्रभाव कम पड़ेगा और वह विज्ञान तथा मानवता के लोक में अधिक स्वतंत्रतापूर्वक विचरण कर सकेगा। विद्यार्थी को भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि की बातें केवल उसके देश को ले कर ही नहीं बल्कि जहाँ तक हो सके अधिक व्यापक क्षेत्र को ले कर बतानी चाहिएँ। इतिहास के सम्बन्ध में यह विशेष रूप से आवश्यक है कि उसका अध्ययन-अध्यापन संसार की पृष्ठभूमि पर किया जाय। तभी इतिहास की जानकारी का पूरा-पूरा लाभ विद्यार्थी को मिल सकेगा। इससे यह भी होगा कि लोगों को मध्यकालीन भारत के हिंदू-मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में जो ग़लत धारणाएँ

हैं वे दूर हो जायँगी। उन्हें एक तो यह मालूम हो जायगा कि अगर कुछ शासकों ने दूसरे धर्मों के अनुयायियों के साथ ज़बर्दस्ती की है तो बहुत से अन्य शासकों ने उदारता की नीति भी बरती है। दूसरी बात उन्हें यह भी मालूम हो जायगी कि धर्म के क्षेत्र में इस प्रकार की बातें मध्य युग में भारत तक ही सीमित नहीं थीं, संसार के अन्य देशों की अवस्था भी ऐसी ही थी। उनमें राजनीतिक घटनाओं की गति-विधि को समझ सकने, उनके रहस्य को जान सकने, की योग्यता भी बढ़ेगी। वे देखेंगे कि भारत में मध्यकालीन युद्धों में धर्म के नाम पर जो नारे लगाये जाते थे वे प्रायः वैसे ही थे जैसे आधुनिक युद्धों में नवयुग, स्वभाग्य-निर्णय, आदि के नाम पर लगाये जाने वाले नारे हैं। युद्ध केवल धर्म के कारण ही नहीं होते थे, अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने और उनमें उत्साह फूँकने के लिए भी धर्म की पुकार उठाई जाती थी।

समाज-विज्ञान का महत्व

सभ्यता का सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक ही नहीं बौद्धिक विकास से भी है। इसलिए सभ्यता के विकास के साथ जो नई-नई परिस्थितियाँ तथा कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहती हैं, मनुष्य के दृष्टिकोण में उनके अनुकूल परिवर्तन उपस्थित करते रहने में शिक्षा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। परंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के विषयों में समाज-विज्ञान को उसके महत्व के अनुसार उचित स्थान दिया जाय। इससे दो लाभ होंगे। एक ओर तो विद्यार्थी में इस तरह की शक्ति का विकास होगा कि जनता की भावनाओं को उत्तेजित करने की मंशा से कही जाने वाली बातों का वह आसानी से शिकार न बनेगा। इससे भारत के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच चलनेवाली तनातनी को कम करने में कुछ सहायता तो मिलेगी ही। दूसरा लाभ यह होगा कि विद्यार्थी में विदेशी प्रभावों का उचित मूल्यांकन कर सकने की क्षमता का विकास

होगा। भारत के लिए यह बात कदापि हितकर नहीं हो सकती कि यूरोप अथवा मध्य-पूर्व के देशों में जो भी विचार फैलें उन्हें फ़ौरन अपने लिए स्वीकार कर लिया जाय। पिछली पीढ़ी के राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं में प्रोफ़ेसर ग्राहम वैलास का बड़ा उच्च स्थान है। ये अक्सर कहा करते थे कि भारत को अपने प्रश्नों पर स्वयं ही विचार करना पड़ेगा। इस का मतलब यह नहीं है कि भारत बौद्धिक क्षेत्र में संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले या आधुनिकता से दूर रह कर पुनरुत्थानवाद की बात सोचता रहे। और न इसका यही मतलब है कि आधुनिक संसार ने ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में जो भारी उन्नति की है उसकी ओर से भारत अपनी आँखें बन्द कर ले। इसका मतलब यही है कि भारत पश्चिम का केवल अनुकरण करके ही अपना उद्धार नहीं कर सकता, उसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की सहायता से अपने वातावरण को दृष्टि में रखते हुए अपनी समस्याओं पर विचार करना पड़ेगा। इसके लिए समाज-विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। समाज-विज्ञान की अनेक शाखाएँ हैं जैसे मानवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान और क़ानून-विज्ञान। इसके बाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को अधिक से अधिक संख्या में विभिन्न धर्मों, साहित्यों, कलाओं तथा संस्कृति की अन्य शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। यदि लोगों को एक दूसरे के धर्म के सिद्धान्तों और आदर्शों की जानकारी रहती है तो इससे पारस्परिक सद्भावना में वृद्धि होती है। यदि भारत के विद्यापीठों में संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं तथा समाज-विज्ञान की आधुनिक विद्याओं का साथ-साथ अध्ययन होगा तो इससे दृष्टिकोण में उदारता का विकास तो होगा ही, साथ ही नई-नई विचार-धाराओं के विकास में भी बड़ा काम होगा। इनके फल-स्वरूप धर्म, राजनीति आदि जीवन के सभी विभागों में लोग उदारता से काम लेना सीखेंगे और उनकी नागरिकता की भावना दृढ़ होगी।

समाज-सुधार

सामाजिक न्याय के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण बात तो शिक्षा का प्रचार ही है, परंतु समाज-सुधार का संगठित प्रयत्न भी एक महत्वपूर्ण कार्य है। पिछली दो पीढ़ियों के समय के अंदर भारत में स्त्रियों की स्थिति में सुधार हो गया है। अछूतोद्धार के आंदोलन का ज़ोर बढ़ गया है। जाति-पाँति के बंधन ढीले पड़ने लगे हैं। अगर इसका ज़्यादा तेज़ी से अंत होने लगे तो इसका समाज के सभी क्षेत्रों में अच्छा प्रभाव पड़ेगा। जाति-पाँति के फल-स्वरूप पुरोहितों और पुजारियों का प्रभाव बढ़ता है, लोगों में ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, और उनके मन में यह विचार बना रहता है कि समाज में उनके स्थान का भाग्य ने उनके जन्म के समय ही निर्णय कर दिया है। इसके कारण विभिन्न जातियों के हिन्दू भी अक्सर आपस में दिल खोल कर बातें नहीं कर सकते। इस वातावरण का परिणाम बढ़ कर साम्प्रदायिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है और अल्प-संख्यक सम्प्रदाय वालों के मन में बहु-संख्यक सम्प्रदाय वालों के प्रति संदेह तथा अविश्वास की भावना उत्पन्न करता है।

जाति-पाँति और समुदाय

पुरानी व्यवस्था में उथल-पुथल होने का परिणाम मोटे तौर पर तो यही हुआ है कि जाति-पाँति का बंधन ढीला हो गया है, परन्तु कुछ हालतों में तो इस परिवर्तन-कालीन परिस्थिति में जाति-पाँति के कारण बनने वाले समुदायों की संख्या अथवा विभिन्नता में कुछ बढ़ती भी हुई है। पुराने समय में जाति-पाँति के कई आधारों में एक आधार एक समुदाय विशेष का एक स्थान विशेष में निवास करना भी होता था। अगर किसी समुदाय को कारणवश अपना पुराना निवासस्थान छोड़

कर कोई नया निवासस्थान बनाना पड़ता था, तो यात्रा की सुविधाओं की कमी के कारण उसका अपने पुराने पड़ोस से सम्बन्ध टूट जाता था और वह अपने नये पड़ोसियों की भाषा, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, आदि ग्रहण करके अपने को नये वातावरण के अनुकूल बना लेता था। उसकी या तो अपनी एक उप-जाति (बिरादरी) बनी रहती थी और या वह अपने आस-पास की किसी उपजाति या उपजातियों में घुल-मिल जाता था। आधुनिक युग में आमदरफ़्त की सुविधाएँ बढ़ जाने के कारण लोगों का वाणिज्य-व्यवसाय अथवा नौकरी के लिए घर से बाहर जाना तो बहुत बढ़ गया है, परंतु अब उनका अपने पुराने स्थान से सम्बन्ध नहीं टूटता और इसलिए उन्हें अपनी भाषा आदि को नहीं बदलना पड़ता, यद्यपि इस प्रवृत्ति के कारण उन्हें आर्थिक हानि भी होती है। अन्य प्रान्त में बस जाने के बाद भी वे अपने समुदाय वालों से ही मिलना-जुलना पसंद करते हैं और इसके लिए अपनी सभाएँ और क्लब बनाते रहते हैं। जिनके बीच वे अपना जीवन बिताते हैं उनके अंतर्तम में प्रवेश कर सकने योग्य वे नहीं बन पाते। अभी कुछ समय से विभिन्न उपजातियों के बीच विवाह-सम्बन्ध जुड़ना भी शुरू हो गया है, परन्तु अभी परिवर्तन-काल समाप्त नहीं हुआ है। अभी प्रत्येक प्रान्त में ऐसे लोगों के अल्प-संख्यक समुदाय मौजूद हैं जो अन्य प्रान्त से आकर वहाँ बस तो गये हैं परन्तु जाति-पाँति के बन्धनों के कारण उस प्रान्त के लोगों में मिल नहीं गये हैं। बेकारी के कारण बढ़ी हुई प्रतियोगिता के फल-स्वरूप उनके और प्रान्त के बहुसंख्यक लोगों के बीच मनोमालिन्य तथा कटुता की वृद्धि होती है। चूँकि समाज बहुत से समुदायों में बँटा हुआ है, इसलिए व्यक्तियों को उनके कारण उत्पन्न होने वाले भेद-भाव को स्वीकार कर लेने की आदत पड़ जाती है और इस आदत का विभिन्न समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता रहता है।

आर्थिक सुधार

शिक्षा-प्रचार, शिक्षा-सुधार और समाज-सुधार के बाद चौथी बात आर्थिक सुधार की आती है। जनता को उस निर्धनता के पाश से मुक्त करना आवश्यक है जिसके कारण भारत का "रैयत" शब्द जीवन-यापन की निम्न कोटि का पर्याय सा बन गया है और अधिकांश जनता को सुख से रहने या उन्नति करने का अवसर ही नहीं मिलता। १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतवासियों की औसत आमदनी केवल ८० रु० सालाना फ़ी आदमी है और भारत की सम्पत्ति का औसत फ़ी आदमी ४४१ रु० पड़ता है। संसार की वर्तमान परिस्थिति में निर्धनता तथा निरक्षरता का अटूट सम्बन्ध है। जब तक एक रहेगी तब तक दूसरी भी रहेगी। जनता की हालत सुधारने के लिए उसमें शिक्षा का प्रचार करने और उसकी आमदनी बढ़ाने का साथ-साथ ही प्रयत्न करना पड़ेगा। कृषि की उन्नति के लिए विज्ञान की सहायता लेने का कार्य अब से बहुत पहले शुरू हो जाना चाहिए था। ऐसा करने से कृषकों के लाभ में कई गुनी बढ़ती हो जायगी और साथ ही वे सह-योगपूर्वक कार्य करना भी सीख जायँगे जिसके फल-स्वरूप विभिन्न समु-दायों के बीच मेल-जोल की प्रवृत्ति भी बढ़ेगी। भारत की खेती अभी बड़े पुराने ढंगों से होती है, जिससे पैदावार बहुत कम होती है। किसान को एक ओर तो अपने ही खेत की चिंता करनी पड़ती है, और दूसरी ओर उसके लिए जो कुछ करना होता है वह अपने घरवालों की सहा-यता से स्वयं ही करना पड़ता है। अगर खेती के लिए नये ढंग के यंत्रों का उपयोग किया जाने लगे तो कृषि सम्बन्धी बहुत सी बातों में सह-योग का मार्ग खुल जायगा और किसानों में व्यक्तिवाद के बजाय सह-योगवाद की मनोवृत्ति बढ़ने लगेगी। कल-कारख़ानों की बढ़ती का भी लोगों की मनोवृत्ति पर इसी तरह का प्रभाव पड़ेगा। पिछले तीस वर्षों

में भारत ने उद्योग-धंधों में अच्छी उन्नति की है, परन्तु उन्नतिशील देशों की अपेक्षा वह अब भी बहुत पिछड़ा हुआ है। कल-कारख़ानों में काम करने वालों की संख्या अभी २ करोड़ से भी कम है और रेलों, जहाज़ों, आदि में काम करने वालों की ३० लाख से भी कम। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति से भी अभी भारत में बहुत कम लाभ उठाया गया है। उदाहरण के लिए लोहे के व्यवसाय को लीजिए। सन् १६३६ में संसार भर की खानों से निकलने वाले लोहे की तुलना में भारत की खानों से निकलने वाला लोहा १॥ प्रतिशत से कुछ ही अधिक था। और भारत के कारख़ानों में तैयार होने वाला फ़ौलाद तो संसार में तैयार होने वाले फ़ौलाद की तुलना में १ प्रतिशत से भी कुछ कम ही था। कांग्रेस ने अपने प्रान्तीय शासन के दिनों में नेशनल प्लैनिंग कमेटी (राष्ट्रीय आयोजना समिति) नाम की एक कमेटी नियुक्त की थी, जिससे यह आशा की गई थी कि उसकी सिफ़ारिशों से बड़े-बड़े कल-कारख़ानों की स्थापना में सहायता मिलेगी। भारत के उद्योग-धंधों की उन्नति में तेज़ी लाने के लिए कई बातों की आवश्यकता है, जिनमें एक यह है कि ब्रिटेन इस काम में सहायता देने का रुख़ अख़्त्यार करे और उसका व्यवसायी समुदाय यह समझ ले कि निर्धन भारत के साथ व्यापार करने की अपेक्षा समृद्धिशाली भारत से व्यापार करने में उसे कहीं अधिक लाभ रहेगा। पुराने समय में यह एक साधारण सी बात थी कि एक देश के व्यवसायी अपने देश के हिताहित की तुलना में अन्य देशों के आर्थिक हिताहित को कुछ भी महत्व नहीं देते थे। परन्तु वाणिज्य-व्यवसाय की आधुनिक प्रगति ने स्थिति में परिवर्तन ला दिया है। जैसे अब गुलामी की प्रथा पुराने समय की बात हो गई है, वैसे ही एक देश के द्वारा दूसरे देश के शोषण की प्रथा भी पुरानी बात होती जा रही है। अगर आज भी यूरोप और जापान में पूँजीपतियों और व्यवसायियों के ऐसे समुदाय मौजूद हैं जो कहीं के व्यापार पर अपना एक मात्र अधि-

कार चाहते हैं, या किसी प्रदेश की बाबत यह चाहते हैं कि उसे ज़बर्दस्ती उनके देश में मिला लिया जाय, और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, सैनिक प्रतियोगिता तथा भयानक युद्ध के कारण बनते हैं, तो इसकी वजह यही है कि लोगों को अपनी पुरानी आदतें बदलने में और समयानुकूल नई बातों की आदत डालने में देर लगा करती है। जहाँ तक ब्रिटेन और भारत का सम्बन्ध है, पिछले चंद सालों की घटनाओं ने ही इस बात को अच्छी तरह साबित कर दिया है कि निर्धन, अशिक्षित और अपनी रक्षा कर सकने में असमर्थ भारत ब्रिटेन के लिए जितना लाभदायक हो सकता है उससे अधिक उसके लिए भार-स्वरूप भी हो सकता है।

सहयोग के क्षेत्र

देश के औद्योगिक विकास के साथ यह भी आवश्यक है कि कारख़ानों में काम करने वालों के लिए इस तरह के नियम बन जायँ कि उन्हें काम करते समय उचित सुविधाएँ मिलेंगी, उनसे एक वाजिबी वक़्त मिसालन आठ घंटे से अधिक काम न लिया जायगा, उन्हें एक वाजिबी दर से कम मज़दूरी न दी जायगी, और इस बात का प्रबन्ध किया जायगा कि अगर चोट खा जाने, बीमार पड़ जाने, बेकार हो जाने, या बुढ़ापे के कारण वे काम कर सकने लायक़ न रह जायँगे तो उन्हें भूखों न मरना पड़ेगा। लेकिन जो भी हो, यह लाज़मी है कि कारख़ानों में काम करने वालों को जाति-पाँति और सम्प्रदाय के भेद-भाव को भुला कर अपने हिताहित की बातों के सम्बन्ध में अपने यूनिअनों में मिल कर सहयोगपूर्वक कार्य करना पड़ेगा। हिंदुओं और मुसलमानों के अलग-अलग यूनिअन बनाने से तो यूनिअन न बनाना ही अच्छा होगा, क्योंकि अलग-अलग यूनिअन रहने से मालिकों के लिए यह मुमकिन हो जायगा कि वे दोनों को एक दूसरे से लड़ा कर हिंदू और मुसलमान दोनों ही को

कम मज़दूरी देते रहें । और जिस तरह मज़दूरों को हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव भुला कर अपने यूनिअन बनाने होंगे उसी तरह मिल-मालिकों, मैनेजरों, कारीगरों, आदि को भी अपने संघ बनाने पड़ेंगे जिनमें साम्प्रदायिकता के लिए कोई स्थान न होगा। आजकल की सीधी-सादी सामाजिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक भेद का जितना महत्व है, उतना औद्योगिक उन्नति के समय में नहीं रह जायगा। जब किसान लोग नये ढंग के हल, खाद, बीज आदि ख़रीदने के लिए और अपनी पैदावार को अच्छे दामों पर बेच सकने के लिए सहयोगपूर्वक कार्य करना सीख जायँगे तो इससे उनकी आर्थिक अवस्था में भी सुधार होगा और हिंदू-मुसलमानों के बीच सहयोग तथा सद्भावना की भी वृद्धि होगी। और भी हमपेशा लोगों को आपस के सहयोग के लिए अपना-अपना संगठन करने की ज़रूरत पड़ेगी। सन् १६३८ में सारे ब्रिटिश भारत में एक लाख से भी कम सहयोग-समितियाँ थीं और उनके मेम्बरों की कुल तादाद ४५ लाख से भी कम थी। देश के औद्योगिक विकास के साथ समाज का आर्थिक पुनर्संगठन होने पर इन आँकड़ों में बड़ी शीघ्रता से वृद्धि होगी और तब यह मालूम होगा कि लोगों के बीच चली आने वाली बदगुमानी को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय उनके कार्य-क्षेत्र में सहयोग की स्थापना है।

बदगुमानियों पर प्रहार

ग़रीबी के दूर होने और उद्योग-धन्धों का विकास होने के फल-स्वरूप बहुत सी स्थानीय बदगुमानियाँ भी दूर हो जायँगी जिनके कारण साम्प्रदायिक मनोमालिन्य को बल मिलता रहता है। उदाहरणतः पंजाब में एक क़ानून है जिसकी बदौलत किसान की क़र्ज़दारी की बिना पर उससे उसकी ज़मीन नहीं छीनी जा सकती और अगर वह उससे छिनती भी है तो किसी खेती-पेशा क़ौम के आदमी को ही मिलती है। इस

क़ानून से पंजाब के अधिकतर मुसलमान तो ख़ुश हैं लेकिन अधिकतर हिंदू नाराज़ हैं। जब रुपयेवालों के लिए ज़मींदारी के बजाय उद्योग-धंधों में अपना रुपया लगाने के रास्ते खुल जायँगे तो फिर पंजाब के हिंदुओं को भी इस क़ानून से कोई नाराज़ी न रह जायगी। इसी तरह खेती में और किसानों के अधिकारों सम्बन्धी क़ानून में सुधार हो जाने पर उस मनोमालिन्य का भी अन्त हो जायगा जो एक पीढ़ी से अधिक समय से बङ्गाल के हिंदू ज़मींदारों और मुसलमान किसानों के बीच दिखाई पड़ने लगा है। लोगों की आर्थिक अवस्था में सुधार और सह-योग-समितियों से ऋण मिलने की सुविधा हो जाने पर मुसलमानों को हिंदू महाजनों से या हिंदुओं को मुसलमान महाजनों से ब्याज की भारी दर पर ऋण लेने की आवश्यकता न रह जायगी।

नवीन वर्गीकरण तथा दृष्टिकोण

देश की आर्थिक अवस्था के सुधार के साथ और विज्ञान के अधि-काधिक उपयोग के कारण लोगों के लिए वाणिज्य-व्यवसाय में नये-नये काम निकलेंगे और पुराने कामों में भी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ होंगी। इन बातों का देश के सामाजिक वर्गीकरण पर भारी प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। देहातों में पहले समय में ज़मींदार लोग हिन्दुओं और मुस-लमानों के बीच मेल-जोल क़ायम रखने में सहायक होते थे। अब उनकी यह शक्ति बहुत घट गई है। भावी सामाजिक व्यवस्था में उनका महत्व और भी कम हो जायगा। मध्यवर्ग की संख्या और शक्ति बढ़ेगी और उसे बेकारी के भूत का, जो आंतरिक संघर्ष को बढ़ाने में सहायक होता है, इतना डर न रह जायगा जितना अब है। परंतु औद्योगिक विकास के फल-स्वरूप सब से अधिक वृद्धि मिल-मज़दूरों की संख्या में होगी। संसार ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में तीखे अनुभव से जो सबक़ सीखा है उसका अगर ध्यान रक्खा गया तब तो यह वर्ग शुरू से ही

ख़ुशहाल बनाया जा सकता है। और नहीं तो उसे अपने संगठन के बल पर ख़ुशहाली हासिल करनी पड़ेगी। परंतु दोनों में से चाहे जो बात हो, यह सम्भावना बहुत अधिक है कि इस वर्ग की दृष्टि भूतकाल के बजाय भविष्य की ओर रहेगी और उसे जितना ध्यान अपने वर्ग के हिताहित का होगा उतना अपने सम्प्रदाय की बातों का नहीं। इस वर्ग के लिए यह सम्भव है कि वह पुनरुत्थानवाद से अधिक प्रभावित न हो और आधुनिकता को स्वीकार करने में अधिक संकोच न करे। अगर सब लोगों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध होने के बाद ही उनकी आर्थिक स्थिति में भी सुधार हो जाय, तो सभी सामाजिक समस्याओं का रूप पलट जायगा और विरोध तथा संघर्ष की बातें अपने आप ही ग़ायब हो जायँगी। हिंदू-मुसलिम समस्या के अंतर्गत आने वाली कुछ बातें तो, जो आज बड़ी जटिल गुत्थियाँ बनी हुई हैं, अपने आप सुलझ जायँगी और ऐसी पुरानी बातें हो जायँगी कि अगली पीढ़ियों के लोगों को यह समझने में कठिनाई होगी कि इन बातों को ले कर झगड़ा क्यों रहता था। यह सच है कि मनुष्यों के संगठन तथा दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन होने में समय लगता है, परंतु यदि इस उद्देश्य को सम्मुख रख कर ठीक ढंग से काम शुरू भी कर दिया जाय तो इस प्रयत्न मात्र का ही जनता की मनोवृत्ति पर अच्छा असर पड़ेगा और जहाँ गहन अंधकार है वहाँ प्रकाश की पहुँच हो जायगी। जब मनुष्य के हृदय में उच्चतर जीवन की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है तो संकीर्णता के बन्धन अपने आप टूटने लगते हैं, साम्प्रदायिक भेदों की तीव्रता कम हो कर सामञ्जस्य और आधुनिकता का बल बढ़ने लगता है।

देश की रक्षा

आर्थिक पुनर्संगठन से देश की रक्षा के प्रश्न का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वर्तमान महायुद्ध ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि भारत में अपने ही

साधनों के बल पर अपनी रक्षा कर सकने की व्यवस्था होनी चाहिए। एक शताब्दी से अधिक समय तक ब्रिटिश जल-सेना की अपार शक्ति के कारण भारत विदेशी आक्रमणों से पूर्णतः सुरक्षित रहा। परंतु अटलांटिक महासागर में भी और प्रशांत महासागर में भी अन्य राष्ट्रों की भी शक्तिशाली जल-सेनाएँ बन गई हैं जिनके कारण ब्रिटिश जल-सेना का अब सागर पर पहले जैसा आधिपत्य नहीं रह गया है। गोताख़ोर जहाज़ों और वायुयानों ने ख़ास तौर पर उसके आधिपत्य को धक्का पहुँचा दिया है। स्थल और जल दोनों ही की युद्ध-नीति में महत्वपूर्ण हेरफेर हो गये हैं और भारत के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अपनी रक्षा के लिए ऐसी सेना, जल-सेना तथा आकाश-सेना रक्खे जो किसी भी राष्ट्र की सैनिक शक्ति से टक्कर ले सकती हों। यदि भारत में यह बात अच्छी तरह से समझ ली जाय कि वर्तमान महायुद्ध से, और इससे भी अधिक निकट भविष्य में आगामी महायुद्धों से, उसे कितना ख़तरा है तो देश का दो भागों में विभाजन किया जाय या नहीं और केन्द्रीय सरकार में हिन्दुओं का कितना हिस्सा हो और मुसलमानों का कितना, इस तरह के सवाल तो महत्वहीन हो जायँगे, और देश को अस्त्र-शस्त्रों से भली भाँति सुसज्जित करने की बात अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण हो जायगी। और अगर देश को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाना है तो उद्योग-धंधों की उन्नति करने तथा सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करने की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा क्योंकि पहले इनके हुए बिना तो युद्ध-सामग्री का निर्माण हो ही नहीं सकता। साम्प्रदायिक मतभेद तो शांति-काल की फ़ुर्सत की बात है, बाहर से आक्रमण की वास्तविक आशंका होने पर उसका फ़ौरन अंत हो सकता है। भारत की वर्तमान स्थिति में जिन बातों की आवश्यकता है उनमें एक यह भी है कि लोग यह समझ लें कि देश को बाहरी आक्रमण का ख़तरा नहीं है यह बात अब पुरानी हो गई है और पहले की तरह ठीक नहीं है। यह बात

समझ में आ जाने पर जनता की मनोवृत्ति वास्तविकता के अधिक निकट रहेगी।

शिक्षितों की बेकारी

शिक्षा-प्रचार, औद्योगिक विकास, इस विकास के फल-स्वरूप होने वाली रेलों, जहाज़ों, तारघरों और बेंकों की वृद्धि, वाणिज्य-विस्तार तथा देश-रक्षा की व्यवस्था—इन सब कामों में इतने शिक्षित लोगों की आवश्यकता पड़ेगी कि शिक्षितों की बेकारी की समस्या अपने आप हल हो जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न करने वाली एक बात दूर हो जायगी। अब तक शिक्षित लोगों को नौकरी मिलने में कठिनाई होने के कारण विभिन्न समुदायों की ओर से यह माँग उठती रहती है कि सरकारी नौकरियों में इतना हिस्सा उनके लिए सुरक्षित रहना चाहिए और इस तरह की माँग के फल-स्वरूप उनके बीच मनोमालिन्य भी उत्पन्न होता रहता है।

आधुनिकता और लोकवाद

शिक्षा के सुधार और विस्तार, उद्योग-धंधों की उन्नति और देश-रक्षा की व्यवस्था के फल-स्वरूप देश में आधुनिकता बढ़ेगी और पुनरुत्थानवाद के कारण लोगों के दृष्टिकोण में जो संकीर्णता आ गई है, वह बहुत कुछ दूर हो जायगी। कृषि और उद्योग-धंधों तथा रेल-तार, जहाज़ आदि की उन्नति का विज्ञान से बड़ा सम्बन्ध है, इसलिए इनकी उन्नति के साथ विज्ञान का अध्ययन करने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ेगी। और पुनर्निर्माण के कार्यों में जितनी वृद्धि होगी उतनी ही लोकवाद के क्षेत्र में वृद्धि होगी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक न होगा कि लोकवाद का अर्थ यह नहीं है कि जो क्षेत्र धर्म का है वहाँ धर्म को उचित महत्व न दिया जाय। उसका अर्थ केवल इतना ही है

कि जिन बातों का केवल लौकिक कल्याण से ही सम्बन्ध है उनको अगर धार्मिक रंग न दिया जाय तो अच्छा है, विशेष कर उस देश में जहाँ के निवासियों में एक से अधिक धर्मों के अनुयायी हैं। अगर लौकिक बातों को धर्म से अलग रक्खा जाय तो राष्ट्रीयता की भावना साम्प्रदायिक मतभेदों से मुक्ति पा कर विकसित हो सकेगी और समाज का स्वाधीनता तथा समानता के सिद्धान्तों के आधार पर पुनर्संगठन सम्भव हो जायगा।

शिक्षा, व्यवसाय और देश-रक्षा

आधुनिक परिस्थितियों ने शिक्षा, उद्योग-धंधों तथा देश-रक्षा की व्यवस्था, इन तीनों के बीच ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है कि तीनों के क्षेत्र में उन्नति साथ साथ ही हो सकती है। अगर देश में निरक्षरता का साम्राज्य है तो कारख़ानों के लिए मिस्त्री वग़ैरह काफ़ी तादाद में मिलना कठिन होगा और सेना के लिए भी आधुनिक ढंग के अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार कर सकने वाले सैनिक आसानी से न मिल सकेंगे। शिक्षित आदमी अशिक्षित आदमी की बनिस्बत अच्छी तरह रहना चाहता है और इसलिए शिक्षा के विस्तार से सब तरह की वस्तुओं की माँग बढ़ती है जिससे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। उद्योग-धंधों और सेना दोनों को कला-कारीगरी की शिक्षा पाये हुए लोगों की आवश्यकता होती है, और इसके परिणाम-स्वरूप जनता में वैज्ञानिक बातों की जानकारी फैलती और बढ़ती रहती है। आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना रखना और सब लोगों की शिक्षा की व्यवस्था करना, ये दोनों ही बड़े ख़र्चीले काम हैं और सरकार इनका बोझा तभी उठा सकती है जब देश में उद्योग-धंधों की वृद्धि के फल-स्वरूप उसे काफ़ी आमदनी होती हो। और यह तो स्पष्ट ही है कि देश में शिक्षा और उद्योग-धंधों की स्थायी उन्नति के लिए यह

आवश्यक है कि उसकी रक्षा कर सकने योग्य शक्तिशाली सेना हो। इसलिए शिक्षा का प्रचार बढ़ाने, उद्योग-धंधों की उन्नति करने और सेना को आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने का काम साथ-साथ ही चलाना पड़ेगा। काम को शुरू करने में आर्थिक कठिनाई निस्सन्देह एक भारी बाधा है। इसको दूर करने का उपाय यह हो सकता है कि व्यवसाय करने वाली कम्पनियों को सरकार, अपनी गारंटी के द्वारा, ऋण के रूप में बड़ी-बड़ी रक़में प्राप्त करने में सहायता दे। इसके सिवाय सरकार यह भी कर सकती है कि वह कम्पनियों में कुछ शेअर ख़रीद कर उनके प्रबंधकर्त्ताओं (डाइरेक्टरों) में अपने प्रतिनिधि भी रक्खे। इससे लोगों का उन कम्पनियों में विश्वास जम जायगा और वे उनके शेअर ख़रीदने को प्रोत्साहित होंगे।

पुनर्निर्माण की प्रगति

जब जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगते हैं तो पुनर्निर्माण में स्वयं ही एक मनोवैज्ञानिक प्रगति उत्पन्न हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य का मस्तिष्क अपनी पुरानी आदतों को छोड़ने लगता है और नये-नये निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने लगता है। पुनर्निर्माण का उद्देश्य है एक नवीन संसार का विकास जिसमें मनुष्य के स्नेह-बंधनों, सहानुभूतियों और अनुरागों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होगा। पुनर्निर्माण मनुष्य की दृष्टि को भूतकाल की ओर से हटा कर भविष्य की ओर फेर देता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से तो यही बहुत बड़ा लाभ है कि मनुष्य को भूतकाल के बजाय भविष्य की ओर देखने की आदत पड़ जाय, क्योंकि इससे पुरानी चली आने वाली समस्याओं को हल करने का काम आसान हो जाता है। जब मनुष्य के क्षितिज की परिधि विस्तृत हो जाती है तो उसकी आत्मा क्षुद्रता और स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठने लगती है। जब मनुष्यों को किसी कार्य-क्षेत्र में सहयोग

करना पड़ता है तो वे एक दूसरे को जानने और समझने लगते हैं और फिर अपने को एक दूसरे के अनुकूल तथा उपयुक्त बनाने की भी चेष्टा करते हैं। इससे सामाजिक जीवन का विकास होता है। वह नई-नई बातें ग्रहण करता हुआ विकास के पथ पर अग्रसर होता है। दूसरी ओर व्यक्तियों में समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्थिर करने वाली भावनाओं का भी विकास होता रहता है। यदि हम हिन्दू-मुसलिम समस्या को इस दृष्टि से देखें तो वह पुनर्निर्माण की बड़ी समस्या के अंतर्गत उसका एक अंग अथवा अंश मात्र दिखाई देगी। जो सुधार स्वयं ही वांछनीय बल्कि आवश्यक हैं, उनके हो जाने से हिन्दू-मुसलिम समस्या निश्चित तथा स्थायी रूप से हल हो सकती है। बल्कि हल होने के बजाय कह सकते हैं कि वह बिलकुल लुप्त हो जायगी। इस प्रकार ये सुधार स्वयं वांछनीय होने के कारण उद्देश्य भी हैं और हिन्दू-मुसलिम समस्या को हल करने की दृष्टि से साधन भी कहे जा सकते हैं। इसलिए इन सुधारों को हाथ में लेना राजनीतिज्ञता की दृष्टि से बड़ी बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता का कार्य होगा। जो बातें स्वयं ध्येय हों उन्हीं को साधन बना लेना भी एक भारी बात होगी।

नवीन समन्वय

सभ्यता की प्रगति को कभी आलोचनात्मक दृष्टिकोण को अधिक महत्व देना पड़ता है और कभी निर्माणात्मक को। जिस समय समाज एक तरह की आदतों, विचारधाराओं और संस्थाओं का त्याग करके परिवर्तन-काल से गुज़र रहा हो, उस समय को आलोचना का समय कह सकते हैं। नवीन परिस्थिति के अनुकूल मूल्यांकन और विचारधाराएँ स्थापित होने में कुछ समय लगना अनिवार्य है। अगर पहली व्यवस्था का अपने समय में कड़ाई के साथ पालन किया गया हो, तो उसका एक परिणाम यह हो सकता है कि समाज नई परिस्थितियों के

अनुकूल अपना पुनर्निर्माण करते रहने की क्षमता को ही थोड़ा-बहुत खो चुका हो। परन्तु जब एक व्यवस्था टूट-फूट जाती है, तो किसी अन्य व्यवस्था का उसका स्थान ग्रहण करना लाज़मी है। परिवर्तन-काल में यथेष्ट अथवा बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व के अभाव में नवीन व्यवस्था पुरानी व्यवस्था से भी निम्न कोटि की हो सकती है। परन्तु यदि परिवर्तन की क्रिया का बुद्धिमत्तापूर्वक यथेष्ट मात्रा में नियंत्रण हो तो नवीन व्यवस्था पहली की अपेक्षा उच्च कोटि की भी हो सकती है। सामाजिक विकास की इस स्थिति में विवेक का बड़ा महत्व है। मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह संकट-काल पर विजय प्राप्त करके एक नवीन समन्वय का विकास कर ले।

पाँचवाँ अध्याय

सांस्कृतिक सामंजस्य

सम्पर्क और सहानुभूति

हिन्दू-मुसलिम समस्या को हल करने के लिए जो भी आयोजना सोची जाय, उसमें एक बात का होना आवश्यक है। दोनों के बीच जो दीवारें खड़ी हो गई हैं, जिनके कारण वे न तो एक दूसरे को समझ पाते हैं और न एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रख पाते हैं, उनका टूटना ज़रूरी है। कुछ बातों में तो उनके बीच पहले भी सम्पर्क बहुत कम था, पुनरुत्थानवाद की धारा ने और बातों में भी उन्हें एक दूसरे से दूर कर दिया। दोनों के बीच की इस दूरी को अब दूर करना होगा। जिस बात को हम समझते हैं, उसे सहन भी कर लेते हैं, परन्तु जिसके हम सम्पर्क में ही नहीं आते उसे कैसे जानेंगे और कैसे समझेंगे? जिसे हम समझते नहीं या जानते नहीं, उसके प्रति संदेह भी सदा बना रहता है। उदाहरणतः जब कहीं हिन्दू-मुसलिम दंगा होता है तो हिन्दू इस बात पर बड़ी आसानी से विश्वास कर लेते हैं कि यह मुसलमानों के षड्यन्त्र का परिणाम है और इसी तरह मुसलमान यह मान लेते हैं कि यह हिन्दुओं की शैतानी की वजह से हुआ है। मनुष्य का मस्तिष्क अज्ञात तथा अपरिचित बातों के सम्बन्ध में सदा उनके घृणित और भयानक होने की कल्पना करता रहा है। समाज के व्यक्तियों की सांस्कृतिक भावनाओं तथा आकांक्षाओं का उसके राजनीतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है। उसके विभिन्न समुदाय सांस्कृतिक दृष्टि से जितने एक दूसरे के निकट अथवा दूर होंगे, उनके बीच राजनीतिक क्षेत्र

में सहयोग की स्थापना हो सकने में उतनी ही कम अथवा अधिक कठिनाई होगी। सांस्कृतिक क्षेत्र की कुछ बातें तो ऐसी हैं कि उनमें धीरे-धीरे परिवर्तन होते-होते कालांतर में ही सामंजस्य स्थापित हो सकता है, परन्तु कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनमें समझौते का, शीघ्र ही सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। हमने हिंदू-मुसलिम समस्या के प्रश्नों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया था, उनमें से हम यहाँ द्वितीय श्रेणी के प्रश्नों पर विचार कर रहे हैं।

शिक्षा-काल में साहचर्य

एक दूसरे को समझने की और मिल कर सहयोगपूर्वक कार्य करने की आदत डालने के लिए लड़कपन का समय सब से अच्छा है, यह बात इतनी स्पष्ट है कि उसे साबित करने की ज़रूरत नहीं है। इसलिए लड़कपन में हिन्दू और मुसलमान लड़कों को पाठशालाओं और विद्यालयों में साथ-साथ शिक्षा मिलने से उनमें सहयोग की भावना का विकास हो सकता है। शिक्षा क्या है ? प्रोफ़ेसर ऐडम्स का कहना है कि विद्यार्थी का अपने चारों ओर के वातावरण को अपनाना और स्वयं उसी वातावरण में घुल-मिल जाना ही शिक्षा है। विद्यालय ही वह वातावरण है जिसके साँचे में विद्यार्थी ढलते रहते हैं और इसलिए जिस हलक़े या क्षेत्र के बालक एक विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हैं उसके अन्दर सहयोग की भावना बढ़ती है। इसलिए विद्यालयों को यह चाहिए कि उनका वातावरण किसी समुदाय अथवा सम्प्रदाय का नहीं बल्कि सारे समाज का वातावरण हो। इससे दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि सार्वजनिक—अर्थात् सरकारी और म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के—विद्यालयों में सब समुदायों, सम्प्रदायों और वर्गों के विद्यार्थियों का समानता के आधार पर प्रवेश होना चाहिए।

लेकिन इतना ही काफ़ी नहीं है। दूसरी बात यह भी ज़रूरी है कि जो विद्यालय किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष के हैं उनके प्रवेश-द्वार भी सब जातियों तथा सम्प्रदायों के विद्यार्थियों के लिए पूरी तरह खोल दिये जायँ। बाय-स्काउट या गर्ल-गाइड बनने वाले लड़कों और लड़कियों को सहयोग की भावना का विकास करने का अवसर विशेष रूप से प्राप्त होता है। हाँ, यह तो कहना ही न होगा कि उनका संगठन साम्प्रदायिक आधार पर न होने पावे। इसी प्रकार इस बात की भी आवश्यकता है कि खेल-कूद के लिए क्लब और टीम साम्प्रदायिक आधार पर न बनने पावें तो अच्छा है। मैचों में भी हिन्दुओं, मुसलमानों, आदि की टीमें न होनी चाहिएँ।

भाषा का प्रश्न

जब यह कहा जाता है कि विभिन्न सम्प्रदायों के विद्यार्थियों की शिक्षा साथ-साथ होनी चाहिए, तो यह भी आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम एक ही हो और इस प्रकार भाषा का प्रश्न हमारे सामने आ कर खड़ा हो जाता है। भाषा का जीवन के सब विभागों से सम्पर्क रहता है और इसलिए उसका मनुष्य के हृदय की भावनाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांस्कृतिक सहयोग अथवा सामंजस्य की समस्या में भाषा का प्रश्न सब से कठिन तथा महत्वपूर्ण है। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि विभिन्न समुदायों को एकता के सूत्र में जोड़ने के लिए इससे ज़्यादा कारगर और कोई बात नहीं हो सकती कि वे एक ही भाषा को ग्रहण कर लें। पिछले सौ बरसों की घटनाओं से यूरोप में यह भी साफ़ ज़ाहिर हो गया है कि यदि किसी समुदाय की यह भावना हो कि उसकी भाषा पर आक्रमण हो रहा है—चाहे यह आक्रमण वास्तविक हो और चाहे काल्पनिक—तो इस बात से उसे इतनी नाराज़ी होती है जितनी और किसी बात से नहीं और वह इस आक्रमण का घोर विरोध करता है।

भारत में कई कारणों से दो हज़ार वर्षों से साहित्यिक भाषाएँ—संस्कृत, पाली, फ़ारसी और अंग्रेज़ी—बोलचाल की भाषाओं से भिन्न रही हैं। एक ओर देश इतना विशाल था और उसमें विभिन्न समुदायों के लोग निवास कर रहे थे और लोगों में शिक्षा की दृष्टि से बड़ी असमानता थी, दूसरी ओर साहित्यिक रचनाओं और शासन तथा राजनीति सम्बन्धी कार्यों के लिए एक भाषा की ज़रूरत महसूस की जाती थी, ऐसी हालत में जो कुछ हुआ वह स्वाभाविक ही था। इन साहित्यिक भाषाओं से राष्ट्रीय विकास में सहायता मिली है। उनके द्वारा शिक्षित लोगों को देश भर के शिक्षित लोगों के साथ विचार-विनिमय करने की सुविधा हुई है और देशव्यापी धर्मों, संस्कृतियों, साहित्यों, कलाओं, शासन-प्रणालियों और राजनीतिक आन्दोलनों का विकास सम्भव हो सका है। लेकिन साथ ही उनके कारण शिक्षित वर्ग तथा साधारण जनता एक दूसरे से कुछ दूर रहे हैं। उन्होंने साहित्य तथा बोलचाल की शैलियों और उनके मुहावरों के बीच अन्तर डाल दिया है जो अब तक चला जा रहा है। पिछली पाँच शताब्दियों में बोलचाल की भाषाओं में भी साहित्य की रचना होने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन भी हो गया है, लेकिन वह बिलकुल ही बदल नहीं गई है। विद्यालयों और मकतबों की शिक्षा में पहले संस्कृत और फ़ारसी के ग्रन्थों का ही प्राधान्य था, और फिर उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी स्कूल क़ायम होने पर उनका स्थान अंग्रेज़ी साहित्य ने ले लिया।

जिन कारणों से साहित्य और बोलचाल की भाषाओं में अंतर बना हुआ है, उन्हीं की बदौलत उत्तरी भारत में हिन्दी और उर्दू के बीच एक खाई बन गई है। सब से पहली बात तो यह है कि हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और उर्दू अरबी लिपि में, इसलिए स्वभावतः हिंदी का आकर्षण संस्कृत की ओर रहता है और उर्दू का अरबी और फ़ारसी की ओर। दूसरी बात यह है कि प्राचीन

राजनीतिक जीवन एक बना रहता तो सभाओं में भाषण करने वालों, समाचारपत्रों में लेख लिखने वालों और राजनीतिक विषयों पर पुस्तकें तैयार करने वालों को ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती जिसे हिंदू और मुसलमान सभी समझ सकें और इसका साहित्य के सभी विभागों पर अच्छा असर पड़ता। परंतु पृथक-निर्वाचन-प्रणाली ने सभाओं और भाषणों, अख़बारों और किताबों सभी के मामले में दोनों सम्प्रदायों को एक दूसरे से अलग कर दिया। हिंदी और उर्दू को जो शब्द यूरोपिअन भाषाओं से लेने पड़ेंगे उनके द्वारा भी वे किसी हद तक एक दूसरे के निकट आवेंगी, लेकिन राष्ट्रीयता और पुनरुत्थानवाद दोनों ही की भावनाएँ विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के विरुद्ध हैं। सिनेमा-फ़िल्मों की प्रवृत्ति निस्संदेह एक ऐसी भाषा का विकास करने की ओर है जिसे सभी सम्प्रदायों तथा समुदायों के लोग समझ सकें, परंतु अभी सिनेमा की शक्ति इतनी नहीं हुई है कि वह साहित्यिक शैली पर अपना प्रभाव डाल सके।

शुद्ध भाषा

भाषा शुद्ध होनी चाहिए यानी उसमें दूसरी भाषाओं के शब्द न आने चाहिएँ, इस प्रकार की विचारधारा का जन्म प्रायः राजनीतिक प्रवृत्तियों के कारण हुआ करता है। हाल ही में टर्की में राष्ट्रीयता की भावना बढ़ने के कारण वहाँ की भाषा, तुर्की, से अरबी शब्दों का बहिष्कार सा हो गया है। इसी प्रकार ईरान में राष्ट्रीयता का ज़ोर बढ़ने के साथ यह कोशिश शुरू हो गई है कि उसकी भाषा, फ़ारसी, का फिर वैसा रूप हो जाय जैसा छठी शताब्दी में, अर्थात् अरब विजेताओं के आने के समय था। हमारे यहाँ हिंदी और उर्दू के बीच विभिन्नता बढ़ने का कारण राजनीतिक क्षेत्र में भेदभाव या पृथक्करण की भावना का बढ़ना है। लेखकों को अपनी शैली को संस्कृतमयी या अरबीमयी बनाने

में ऐसा संतोष होता है जैसे उन्होंने साम्प्रदायिक क्षेत्र में कोई विजय प्राप्त कर ली हो। अंतिम बात यह है कि बोलचाल की भाषा इतने समय तक उपेक्षित रहने के कारण इस योग्य नहीं है कि उस में उच्च कोटि की काव्य-रचना हो सके या दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन किया जा सके। यह एक वास्तविक कठिनाई है।

दो भाषा या एक ?

बहुत पुराने समय से साहित्य और बोलचाल की भाषाओं का भिन्न-भिन्न होना, फिर दो अलग-अलग लिपियों की मौजूदगी, धार्मिक विषयों की शब्दावली का प्रभाव, पुनरुत्थानवाद की धारा, राजनीति में पृथक् निर्वाचन-प्रणाली और अधिकांश जनता की निरक्षरता—इन सब बातों का मिल कर नतीजा यह हुआ है कि हिंदी साहित्यिकों की शैली पर संस्कृत का और उर्दू लेखकों की शैली पर अरबी और फ़ारसी का प्रभाव रहता है। भाषा के प्रश्न को ले कर बंगाल, सिंध, आदि में भी कठिनाई उत्पन्न होने लगी है, लेकिन सब से अधिक कठिनाई उस उत्तरी भाषा के सम्बन्ध में हो रही है जिसे कोई हिंदी, कोई उर्दू और कोई हिंदुस्तानी के नाम से पुकारता है। यह भाषा बड़ी महत्वपूर्ण है क्योंकि उत्तर में इसे बोलने वालों की संख्या दस करोड़ के लगभग है और दक्षिण में भी लगभग इतने ही आदमी इसे समझ लेते हैं। देश के प्रायः सभी भागों में इसे देश की राष्ट्र-भाषा या क़ौमी ज़बान भी मान लिया गया है, जिससे इसका महत्व और भी बढ़ गया है। यह दलील अकसर पेश की गई है कि हिंदी और उर्दू को अपने-अपने ढंग से उन्नति करने दिया जाय, दोनों के बीच एक कृत्रिम भाषा का निर्माण करने का प्रयत्न असफल रहेगा, समस्या को हल करने का ढंग यही है कि हिंदी और उर्दू दोनों के समर्थक इस सिद्धान्त को मान लें कि हमें भी जीना है और दूसरों को भी जीने देना

है। यह दलील हिंदी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ मान लेने या बन जाने देने के पक्ष वालों की है, परंतु समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तर्क बड़ा भ्रमपूर्ण है । इस तर्क के आधार में यह धारणा है कि विभिन्न समुदायों का यंत्रवत् साथ-साथ रहना ही उन्हें एक समाज बना देता है। परंतु बात ऐसी नहीं है। समाज के अंदर एकता की भावना का होना आवश्यक है। समाज इस आधार पर नहीं चलता कि उसके विभिन्न समुदाय साथ-साथ रहेंगे लेकिन एक दूसरे के मामलों से सरोकार न रक्खेंगे। समाज के अंगों का एक दूसरे से सम्बन्ध रहता है, और मानसिक सम्बन्धों की क्रिया सदा चलती रहती है। समाज अपने अंगों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नवान रहता है और जिस मात्रा में सामजस्य स्थापित हो पाता है उसी मात्रा में समाज का संचालन सुचारु रूप से होता है। जो लोग स्थायी रूप से साथ-साथ रहते हैं, उनमें यथासम्भव एक ही भाषा में बोलने और लिखने की जो प्रवृत्ति होती है, वह कोई संयोग की ही बात नहीं है। यह समाज के स्वभाव की विशेषता का ही परिणाम है । जो भी बात इस स्वाभाविक प्रवृत्ति में बाधा डालती है, वह समाज के मूलाधार पर आघात करती है । समाज के लिए जिस एकता की भावना का होना आवश्यक है, उसको कोई और बात उतना धक्का नहीं लगा सकती जितना पड़ोसियों का भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलना । एक दूसरी तरह की मिसाल से बात स्पष्ट हो जायगी। जिससे हम स्नेह की आशा रखते हैं वह अगर केवल शिष्टता का ही प्रदर्शन करे तो यह शिष्टता अशिष्टता से भी अधिक चोट पहुँचाती है। शुरू में मंशा कुछ भी हो, जिन्हें एक हो कर रहना चाहिए वे अगर अपने-अपने रास्ते पर चलने की नीति बरतेंगे तो इसका परिणाम यह होगा कि कुछ समय बाद दोनों अपना-अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगेंगे। भाषा के क्षेत्र में भी साम्राज्यवाद उतना ही चोट पहुँचाने वाला होता है जितना कि राजनीतिक

अथवा आर्थिक क्षेत्र में और इसका भी परिणाम वही होता है, यानी जो पक्ष अपनी भाषा के साथ अन्याय हुआ समझता है वह दूसरे पक्ष से सम्बन्ध तोड़ कर अलग हो जाना चाहता है। इसलिए समाज को उन बातों से मुक्ति दिला देना आवश्यक है जो पड़ोसियों की एक भाषा की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति में बाधा उपस्थित करती हैं।

लिपि का प्रश्न

लिपि के सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि उत्तरी भाषा के क्षेत्र में सर्वत्र यह व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रारम्भिक पाठशालाओं में ही हरएक विद्यार्थी को अरबी और देवनागरी दोनों लिपियाँ सिखा दी जायँगी। विद्यार्थी को एक के बजाय दो लिपियाँ सीखने में कुछ मेहनत ज़रूर ज़्यादा करनी पड़ेगी, परंतु इससे उसके लिए एक और साहित्य का द्वार खुल जायगा और साम्प्रदायिक सद्भावना में भी वृद्धि होगी। अगर सभी लोग दोनों लिपियाँ सीखने लगेंगे तो यह भावना भी दूर हो जायगी कि यह लिपि हिंदुओं की है और यह मुसलमानों की।

समस्या को हल करने का एक और उपाय यह भी हो सकता है कि हिंदी और उर्दू दोनों के लिए रोमन लिपि को स्वीकार कर लिया जाय। अब हमारे देश का संसार के साथ अटूट सम्बन्ध जुड़ गया है, इसलिए हमें इस बात का तो यथेष्ट प्रबंध करना ही पड़ेगा कि हम संसार की घटनाओं से अच्छी तरह परिचित रहें। भविष्य में ब्रिटेन और भारत का सम्बन्ध चाहे कुछ भी रहे, भारतवासियों के लिए अंग्रेज़ी तथा अन्य यूरोपिअन भाषाएँ सीखने की आवश्यकता तो बढ़ेगी ही। यह निश्चय है कि हमारे देश वालों को अधिकाधिक संख्या में रोमन लिपि सीखनी ही पड़ेगी। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि जिस तरह सन् १९३१ से टर्की ने रोमन लिपि को ग्रहण कर लिया है उसी तरह भारत भी उसे क्यों न ग्रहण कर ले। थोड़े से चिन्ह जोड़ लेने से रोमन लिपि

इस योग्य हो जाती है कि उसमें किसी भी भाषा के शब्द ठीक-ठीक लिखे जा सकते हैं। यूरोप में संस्कृत, अरबी और पाली के सैकड़ों ग्रंथ रोमन लिपि में प्रकाशित हो चुके हैं। अगर रोमन लिपि को भारतीय भाषाओं के लिए ग्रहण कर लिया जाय तो न तो उसमें किसी ध्वनि को व्यक्त करने में कठिनाई होगी और न उसे ले कर साम्प्रदायिकता अथवा प्रान्तीयता का ही प्रश्न उठेगा। इसके सिवाय उसके द्वारा कई भाषाओं की जानकारी हासिल करने में आसानी हो जायगी। सब भाषाओं की एक लिपि हो जाने के फल-स्वरूप वे एक दूसरे से दूर-दूर हटने के बजाय एक दूसरे के निकट आने लगेंगी। परंतु रोमन लिपि को ग्रहण करने की बात राष्ट्रीयता तथा पुनरुत्थानवाद दोनों ही की भावनाओं के विरुद्ध है। उसे ग्रहण करने में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की एक और विजय तथा अपनी एक और पराजय दिखाई पड़ती है। यह सम्भव है कि भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद रोमन लिपि को उतने विरोध का सामना न करना पड़े जितने का आज करना पड़ेगा। अस्तु, यह तो आगे की बात है, परंतु इस समय इतना भी हो जाय तो अच्छा ही होगा कि विद्यालयों, अदालतों आदि संस्थाओं में अन्य लिपियों के साथ रोमन लिपि को भी स्वीकार कर लिया जाय। सम्भव है लोगों को रोमन लिपि का व्यवहार कर सकने की स्वतन्त्रता देने भर से ही कुछ गुत्थियाँ सुलझ जायँ और संस्थाओं के काम में कुछ सहूलियत हो जाय।

पारिभाषिक शब्द

जब हम लिपि के प्रश्न से भाषा के प्रश्न पर आते हैं, तो देखते हैं कि भौतिक विज्ञान तथा समाजविज्ञान की विविध शाखाओं के लिए पारिभाषिक शब्द तैयार करने में भारत की सभी भाषाओं को कठिनाई हो रही है। इस कार्य में हिंदी संस्कृत के शब्द-भांडार से सहायता ले रही है और उर्दू अरबी-फ़ारसी के शब्द-भांडार से, और इस प्रकार दोनों

एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं। दोनों के लिए उचित यह होगा—और यही प्रणाली स्वाभाविक भी कही जायगी—कि वे बोलचाल की भाषा में पारिभाषिक शब्दों की खोज करें। इस तरह गणित, विज्ञान और दर्शन में बहुत से शब्द ऐसे हो जायँगे जो हिंदी और उर्दू दोनों में प्रचलित हो सकेंगे, और ये शब्द उनके अपने होने के कारण उनके गौरव को बढ़ाने वाले भी होंगे। जिन पारिभाषिक शब्दों के लिए बोलचाल की भाषा से सहायता न मिल सके, उनके लिए संस्कृत और अरबी-फ़ारसी से मदद लेनी चाहिए, लेकिन कोशिश यह होनी चाहिए कि इस प्रकार बनने वाले शब्द हिंदी और उर्दू दोनों में प्रचलित हो जायँ। पारिभाषिक शब्दों में ऐसे शब्द होते हैं जिनका अर्थ बहुत कुछ मिलता-जुलता होता है, लेकिन जिनके बीच कुछ बारीक भेद भी रहता है। अगर संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के उन शब्दों को, जिनका अर्थ मोटे तौर पर एक सा है, ग्रहण करते समय यह तै कर लिया जाय कि हिंदी-उर्दू में उनका ठीक-ठीक अर्थ यह होगा तो वे हिंदी और उर्दू दोनों की ही सम्पत्ति बन जायँगे और साथ ही अर्थ-भेद की बारीकी को प्रकट कर सकने वाले समानार्थक शब्दों की समस्या भी हल हो जायगी। परन्तु आज पारिभाषिक शब्दों की संख्या इतनी बढ़ गई है और यूरोप तथा अमरीका के विज्ञान के ग्रंथों में बहुत समय तक प्रयुक्त होते-होते उनके अर्थ इतने निश्चित तथा स्पष्ट हो गये हैं कि उनमें से बहुतों के लिए संतोषजनक पर्याय संस्कृत या अरबी-फ़ारसी की सहायता से नहीं गढ़े जा सकते। इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों की बाबत अच्छा यही होगा कि उन्हें उसी रूप में ग्रहण कर लिया जाय जिस रूप में कि वे यूरोपिअन भाषाओं में प्रचलित हो चुके हैं। इससे विद्यार्थियों को बड़ी सहायता मिलेगी, क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का युग आ चुका है और विज्ञान की किसी एक शाखा में कार्य करने वाले विभिन्न देशों के कार्यकर्त्ता एक दूसरे के काम की जानकारी रखने की

कोशिश करते हैं और इस प्रकार विभिन्न भाषाओं में विज्ञान के पारिभाषिक शब्द प्रायः एक ही रूप में प्रचलित हो गये हैं। इस प्रकार के शब्दों को ग्रहण कर लेने से हिंदी, उर्दू तथा अन्य भारतीय भाषाओं को एक दूसरे के निकट आने में सहायता मिलेगी। इस सम्बन्ध में एक भारी कठिनाई भी है। यूरोप (और अमरीका) की भाषाएँ प्राचीन ग्रीस और रोम की भाषाओं से सम्बन्धित होने के कारण आपस में उसी तरह मिलती जुलती हैं जिस तरह भारतीय भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। इसलिए यूरोपिअन भाषाओं में प्रचलित पारिभाषिक शब्द भारतीय भाषाओं में उतनी अच्छी तरह नहीं खप सकेंगे जितनी अच्छी तरह कि वे यूरोपिअन भाषाओं में हिल-मिल गये हैं। परन्तु उनके रूप में थोड़ा सा हेर-फेर कर लेने से यह कठिनाई हल हो सकती है। फिर भी उन शब्दों में जो थोड़ी सी विचित्रता शेष रह जायगी, वह धीरे-धीरे अभ्यास से दूर हो जायगी। हिंदू-मुसलमानों के बीच सद्भावना होने पर इस प्रकार का वैज्ञानिक शब्दकोश तैयार हो सकता है जिसमें बोलचाल की भाषा, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी और यूरोपिअन भाषाओं से पारिभाषिक शब्दों का संग्रह किया गया हो और जिसे द्राविड़ भाषाओं के अतिरिक्त भारत की अन्य सभी भाषाओं के लिए स्वीकार कर लिया जाय। यदि हिंदी और उर्दू में आवश्यक बातों के लिए एक सी शब्दावली स्थिर हो जाय तो उत्तरी भारत में विश्वविद्यालय तक की पढ़ाई के लिए अंग्रेज़ी के बजाय मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है। अगर दोनों अलग-अलग रास्तों पर चलेंगी तो समय, शक्ति तथा धन का अपव्यय तो होगा ही, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सद्भावना की भी कमी रहेगी।

साधारण साहित्य

विज्ञान के क्षेत्र को छोड़ कर जब हम साधारण साहित्य के क्षेत्र में आते हैं, तो देखते हैं कि उसमें मोटे तौर पर तीन तरह की शैलियाँ

प्रचलित हैं। एक शैली तो हिंदी की है जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। दूसरी शैली अरबी-फ़ारसी के शब्दों से लदी हुई उर्दू की है। तीसरी शैली बोलचाल वाली भाषा की है जिसमें संस्कृत या अरबी-फ़ारसी से निकले हुए भी बहुत से शब्द हैं परन्तु उनकी बाबत लोगों का ध्यान इस बात की ओर नहीं रहता कि वे संस्कृत के हैं या अरबी-फ़ारसी के। पहली और दूसरी शैलियों के चलते रहने का एक बड़ा कारण यह है कि पाठकों की संख्या छोटी है और उनमें ऐसे लोग बहुत हैं जिन्हें कठिन भाषा की जानकारी हासिल करने के लिए फ़ुर्सत है। जब पाठकों की संख्या बढ़ेगी और जिन लोगों के पास अधिक अवकाश नहीं है वे भी पाठक बनेंगे, तो लेखकों की शैली में सरलता की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाने की आशा की जा सकती है।

इसलिए साधारण साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में सब से मुख्य बात यह है कि ज्यों-ज्यों जनता में साक्षरता बढ़ेगी त्यों-त्यों पाठकों की संख्या बढ़ेगी और इसके साथ ही सरल भाषा में लिखे गये साहित्य की माँग बढ़ेगी। ज्यों-ज्यों पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों की संख्या बढ़ेगी त्यों-त्यों समाचारपत्र, कहानी, उपन्यास, भाषण, थिएटर, सिनेमा. आदि सब को संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के प्रभाव से मुक्त होना पड़ेगा। उनको बोलचाल की भाषा के निकट आने की कोशिश करनी पड़ेगी और इस तरह हिंदी और उर्दू दोनों एक जैसा जामा पहनने लगेंगी। अगर राजनीतिक क्षेत्र में संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली जारी हो जाय और हिंदू-मुसलमानों के ताल्लुक़ात में सुधार हो जाय, तो इस सरलता की क्रिया में तेज़ी भी आ सकती है। तब किसी राजनीतिज्ञ के लिए यह बात समझदारी की न होगी कि वह अपने निर्वाचकों से संस्कृतमयी हिंदी या अरबीमयी उर्दू में भाषण करे। साधारण राजनीति की भाषा जिस प्रकार अँग्रेज़ी से कांग्रेस, लीग, आदि शब्द ग्रहण कर चुकी है, उसी प्रकार उसे और भी बहुतेरे शब्द ग्रहण करने पड़ सकते

हैं, जैसे वोट, कौंसिल, असेम्बली, पार्लामेन्ट, रिज़ोल्यूशन, एडजर्नमेन्ट, बजट, पबलिक, कमेटी, मीटिंग, आदि। अगर हिंदी और उर्दू एक दूसरे से भी शब्द ग्रहण करें तो इससे दोनों के शब्द-भांडार की वृद्धि होगी। प्रत्येक भाषा का विकास होता रहता है और इस विकास की क्रिया में उसमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। अब तक जो दो धाराएँ साथ-साथ बहती रही हैं, या तो उनका संगम होगा और नहीं तो भाषा का विकास रुक जायगा। भाषा के विकास ही में तो जाति की सजीवता, राष्ट्र की शक्ति दिखाई पड़ती है। जो भाषा अपनी बहिनों के सम्पर्क में आने या उनके साथ आदान-प्रदान करने में संकोच अथवा संकीर्णता का प्रदर्शन करती है उसमें निर्जीवता आने लगती है। जब साम्प्रदायिक वादविवाद की उत्तेजना दूर हो जायगी तब यह बात समझ में आने लगेगी कि फ़ारसी के छोटे-छोटे सरल और मधुर शब्दों का बहिष्कार करने में न हिंदी का लाभ है और न संस्कृत के सुंदर और भावपूर्ण शब्दों का त्याग करने में उर्दू का। हिंदी के पुराने कवियों ने अपनी रचनाओं में अरबी और फ़ारसी के सैकड़ों शब्दों का व्यवहार किया है। दाग़, ज़ौक़ मीर आदि उर्दू शायरों ने ग़ज़लों और शेरों में सुन्दर भाव-व्यञ्जना के साथ भाषा की वह सफ़ाई दिखाई है कि उसे चाहे उर्दू कह लीजिए और चाहे हिंदी।

साहित्यिक शैलियाँ

अब तक जो कुछ कहा गया है उसका मतलब यह हरगिज़ नहीं है कि सभी प्रकार के विषयों अथवा पाठकों के लिए एक ही प्रकार की शैली काम दे सकती है। लेखक को अपनी शैली विषय के अनुसार या पाठकों की योग्यता तथा रुचि के अनुसार बनानी ही पड़ती है। परन्तु शैली का अन्तर एक बात है, जान-बूझ कर बोलचाल की भाषा से दूर रहना या शैली में बनावटीपन लाना और बात है। उदाहरणतः

संस्कृत में तो लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग बड़ी साधारण सी बात है, परन्तु हिंदी में इस प्रकार के समास अच्छे नहीं लगते। इसी प्रकार अरबी में बहुत से शब्दों का बहुवचन ऐसा बनता है कि एकवचन वाले रूप से बहुत भिन्न हो जाता है। जो लोग अरबी की जानकारी नहीं रखते उन्हें अक्सर किसी शब्द से परिचित होते हुए भी उसके बहुवचन-सूचक शब्द का अर्थ समझने में कठिनाई होती है। कठिन हिंदी या उर्दू को ठीक से समझ सकने के लिए अक्सर संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के व्याकरण के नियमों की थोड़ी बहुत जानकारी दरकार होती है। भाषा में इस बात की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि उसमें शैलियों की अनेकरूपता हो, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जहाँ किसी सरल और सब की समझ में आ जाने वाले शब्द से काम चल सकता हो, वहाँ अकारण ही एक विद्वत्तापूर्ण, क्लिष्ट शब्द बिठा दिया जाय। सरल और साधारण शब्दों की जगह संस्कृत या अरबी-फ़ारसी के शब्दों की, उनके शुद्ध रूप में, भरमार करने की कोशिश का मतलब अक्सर यह होता है कि कई शताब्दियों से भाषा के क्षेत्र में जो विकास होता रहा है उसकी धारा को पलट दिया जाय। स्वाभाविक शैली का अर्थ तो यह है कि भाषा के क्षेत्र में वास्तविकता की ओर से आँखें न बन्द की जायँ और जो भी शब्द व्यवहार में चालू हो गये हैं उन सब का बिना संकोच या पशोपेश के उपयोग किया जाय, उनकी बाबत अब यह सवाल न उठाया जाय कि वे संस्कृत से आये हैं या अरबी-फ़ारसी से। जब पढ़ना लिखना जानने वाले लोगों की संख्या बढ़ेगी और लोकभाषा में लिखे गये साहित्य की माँग बढ़ेगी तो इस स्वाभाविक शैली का पक्ष और भी प्रबल हो जायगा। इस बात की भी बहुत सम्भावना है कि राजनीतिक और सामाजिक विषयों के साहित्य की माँग बढ़ने पर आलंकारिक शैली में लिखने की प्रवृत्ति कम हो जायगी और इस प्रकार हिन्दी और उर्दू की शैलियों का पार्थक्य कम होने लगेगा। यहाँ इतना

और कह देना अप्रासंगिक न होगा कि आलंकारिकता या सजावट का मोह और शैली में शुद्धता और स्वच्छता लाने की इच्छा, ये दोनों एक बात नहीं हैं।

भाषा के प्रश्न का राजनीतिक पहलू

स्वाभाविक शैली का साहित्यिक दृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है और राजनीतिक दृष्टि से भी यही वांछनीय है। जिस प्रकार राजनीति में पार्थक्य या भेदभाव की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ रक्खा है उसी तरह अगर साहित्य के क्षेत्र में कृत्रिमता की वर्तमान प्रवृत्तियों की विजय हो गई तो हिन्दी केवल हिंदुओं की भाषा रह जायगी और उर्दू हिंदुस्तान भर के मुसलमानों की भाषा बन जायगी। जो लोग धर्म की दृष्टि से दो सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं उनका भाषा और उसके फल-स्वरूप संस्कृति के क्षेत्र में भी दो दलों में विभाजित होना अच्छी बात न होगी। जो लोग हिंदुओं और मुसलमानों को दो क़ौम मानना चाहते हैं उनका पक्ष और भी प्रबल हो जायगा, और हिन्दु-मुसलिम समस्या आज की अपेक्षा दुगनी नहीं दसगुनी कठिन हो जायगी। कुछ लोग कभी-कभी स्विटज़रलैंड की मिसाल पेश करके यह दलील दिया करते हैं कि वहाँ के निवासियों में तीन-तीन भाषाएँ रहते हुए भी उनकी जातीयता या राष्ट्रीयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। ये लोग यह भूल जाते हैं कि स्विटज़रलैंड में फ़्रेंच, जर्मन और इटालियन भाषाएँ बोलने वाले लोग अलग-अलग प्रदेशों या ज़िलों में बँटे हुए हैं, लेकिन हिन्दुस्तान में तो हिन्दू और मुसलमान सब जगह साथ-साथ ही बसे हुए हैं। भारत के लिए तो चैकोस्लोवेकिया की मिसाल ज़्यादा लागू हो सकती है। इस देश के निवासियों ने अपने बीच भाषा सम्बन्धी एकता अथवा सामंजस्य स्थापित करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। राजधानी, प्रेग नगर, में दो विश्वविद्यालय थे—एक चैक लोगों का और दूसरा जर्मन-भाषा-

भाषियों का। नतीजा यह हुआ कि देश टुकड़े-टुकड़े हो गया और उसे जर्मनी ने अपने अधिकार में कर लिया है।

साहित्यिक विषय

हिन्दी और उर्दू में शब्दों की क्लिष्टता और शैली की कृत्रिमता दूर हो कर स्वाभाविकता आ जाने से दोनों के बीच साहित्यिक रचनाओं के विषयों में भी समानता आने लगेगी। कोई जीवित साहित्य इस बात से संतोष नहीं कर सकता कि वह प्राचीन विद्या की बातों को दोहरा कर ही निर्माण करने का ढोंग करता रहे। उसे अपने अंदर से इस बात की प्रेरणा मिलती रहती है कि वह काव्य, कथा-साहित्य, समाज-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, आदि विचार-जगत और साहित्यिक क्षेत्र के विभिन्न विभागों में नये-नये विषयों को ले कर उन पर कुछ नई बातें कहे। जैसे-जैसे भारत की भाषाओं के साहित्य में वर्तमान जगत और आधुनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों की मात्रा बढ़ेगी, तैसे-तैसे उनके विषयों, उनकी विशेषताओं और उनके वातावरण का अंतर कम हो कर उनके बीच समानता बढ़ेगी। तब हिन्दी और उर्दू का विरोध दूर हो कर वे आपस में ताने-बाने की तरह मिलने लगेंगी।

मानवतावाद

जो प्रवृत्तियाँ उसकी एकता को नष्ट करने, उसे खंड-खंड कर देने की कोशिश में लगी हुई हैं, उन पर अगर भारत विजय प्राप्त कर ले तो वह संसार की संस्कृति को एक बहुत बड़ी देन या भेंट अर्पण कर सकता है। वह भेंट होगी हिन्दू, मुसलिम और आधुनिक संस्कृतियों के समन्वय या मेल के फल-स्वरूप विकसित होने वाला मानवतावाद। जब हमारे अंदर संस्कृति की विभिन्नताओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उनका आदर करने की प्रवृत्ति बढेगी, तो हमारे विद्वान और

पंडित संस्कृत, अरबी और फ़ारसी ही नहीं यूरोपिअन भाषाओं के साहित्यों की भी जानकारी हासिल करने की कोशिश करेंगे और प्राचीन भारत में, मध्यकालीन मुसलिम जगत में और आधुनिक यूरोप में जो कुछ भी ग्रहण करने योग्य है उसे अपनाना चाहेंगे। इस प्रकार विकसित होने वाला मानवतावाद ही वास्तव में पुनरुत्थानवाद को हटा कर उसकी जगह ले सकता है। इसी बात को दूसरी तरह से यों भी कह सकते हैं कि पुनरुत्थानवाद की जो दो धाराएँ चल रही हैं वे अगर उदार, व्यापक और उन्नतिशील दृष्टिकोण से प्रभावित हों तो उनका संगम हो कर एक ऐसी सांस्कृतिक धारा बन सकती है जो हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को अपनी ओर खींच सकेगी और उन्हें आगे ले जा कर मानवता के विशाल जीवन में पहुँचा देगी। पुरानी बातों को फिर से ज्यों का त्यों लाने की कोशिश करना असली पुनरुत्थान नहीं है। असली पुनरुत्थान तो यह होगा कि भारत की विचार-शक्ति और संस्कृति में फ़िर से नया जीवन आ जाय, उसका समाज जीवन के आदर्शों का समन्वय करने में समर्थ हो और फिर विश्वव्यापी मानव समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण के उसकी भावी उन्नति में सहायता और सहयोग प्रदान करे।

छठा अध्याय

राजनीतिक समझौता

शीघ्रता की आवश्यकता

हिन्दू-मुसलिम समस्या के दो पहलुओं पर हम विचार कर चुके। पहली श्रेणी में वे प्रश्न आते हैं जो शिक्षा का प्रचार बढ़ने, लोगों की माली हालत सुधरने और देश-रक्षा की समुचित सैनिक व्यवस्था होने से अपने आप हल हो जायँगे। परन्तु शिक्षा, समृद्धि और सैनिक तैयारी, इन तीनों ही क्षेत्रों में देश को आगे बढ़ाने के लिए एक आयोजना बनाने और उसके अनुसार शीघ्र ही कार्यारम्भ करने की आवश्यकता है। दूसरी श्रेणी के अंतर्गत वे प्रश्न हैं जिन्हें हल करने के लिए उस सांस्कृतिक सामंजस्य की आवश्यकता है जिसका आधार स्वतंत्रता और मानवता हो और जिससे कृत्रिमता तथा संकीर्णता को प्रोत्साहन न मिल सके। इनके बाद अब हम समस्या के तीसरे पहलू को लेते हैं जिसके अंदर राजनीतिक प्रश्न आते हैं। इन प्रश्नों का पहली और दूसरी श्रेणियों के प्रश्नों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु इनकी बाबत यह भी मुमकिन है कि देश की मुख्य-मुख्य राजनीतिक अथवा साम्प्रदायिक संस्थाएँ, देशी नरेश तथा सरकार मिल कर, आपस में बातचीत करके, इन्हें समझौते के द्वारा हल कर लें। राजनीतिक समझौता शीघ्र ही हो जाना आवश्यक है, यह तो ऐसी स्पष्ट बात है कि उस पर तर्क-वितर्क करना व्यर्थ होगा।

युद्ध और उन्नति

यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि इस समय राजनीति में जो अवांछनीय स्थिति उत्पन्न हो गई है और जिसके कारण राजनीतिक प्रगति बिलकुल रुक गई है, उसका एक बड़ा कारण यह है कि सन् १९२७ से टालमटूल की नीति का बोलबाला रहा है और संतोषजनक समझौते की बात लगातार टलती रही है। इसके बाद महायुद्ध छिड़ गया। कठिन प्रश्नों का युद्ध-काल में निर्णय नहीं हो सकता और इसलिए उन्हें युद्ध समाप्त होने तक स्थगित कर देना चाहिए, यह नीति पहले भले ही ठीक रही हो लेकिन युद्धों का आधुनिक काल में जो रूप हो गया है उसने तो इस नीति को बिलकुल दक़ियानूसी बना दिया है। जिस समय युद्ध स्थायी सेनाओं के सैनिकों के बीच होते थे, उस समय यह नीति ठीक थी। सन् १९१४ में युद्ध के स्वरूप में भारी उलटफेर हो जाने के बाद भी यह नीति काम दे सकती थी। आज भी अगर चंद हफ़्तों या चंद महीनों चलने वाला छोटा-मोटा युद्ध छिड़ा हो, तो इस नीति में कोई बुराई की बात नहीं है। परन्तु वर्तमान महायुद्ध तो इस तरह का युद्ध नहीं है। यह तो वर्षों चलने वाला युद्ध है और इस बीच युद्ध में भाग लेने वाले राष्ट्रों को अपनी सारी शक्ति और अपने सारे साधनों को जुटा कर उनका उपयोग करने की आवश्यकता है। अब सैनिकों और दूसरे लोगों के बीच कोई अन्तर नहीं रह गया है। सभी को सैनिक बनना पड़ सकता है या युद्ध की तैयारी में किसी और तरह से भाग लेना पड़ सकता है। जब युद्ध में विजय प्राप्त कर सकने के लिए सबके सहयोग की आवश्यकता है, तो यह स्वाभाविक ही है कि अगर सामाजिक व्यवस्था में कोई त्रुटि अथवा अन्यायपूर्ण बात है तो उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट होगा और उसे दूर करने की प्रवृत्ति भी होगी। बरसों चलने वाले युद्ध में बीच-बीच में चिंताजनक अवसर भी उपस्थित हो जाते हैं

और अगर पहले से चले आने वाले वाद-विवादों या झगड़ों की बाबत समझौता नहीं हो पाया है तो ऐसे मौक़ों पर वे घोर असंतोष अथवा अशांति का भी रूप धारण कर सकते हैं। यदि बहुत समय तक समझौता न हो और इसके फल-स्वरूप राजनीतिक प्रगति रुकी रहे, तो लोगों का वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय द्वारा आगे बढ़ने के ढंग से विश्वास हटने लगता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फैली हुई अराजकता की भावना देश की आंतरिक राजनीति में भी प्रवेश करने लगती है। अगर इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह मालूम होगा कि युद्ध-काल में उन्नति तथा सुधार के प्रयत्नों को रोक देने के बजाय उन्हें आगे बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए। यही कारण है कि महायुद्ध के रहते हुए भी ब्रिटेन में शिक्षा, बीमा, आर्थिक नियंत्रण बल्कि समाज-वाद के प्रश्नों को ले कर सुधार की कुछ बातें तो निश्चित हो गई हैं और कुछ बातों पर विचार हो रहा है। युद्ध के समय सुधार की बातों को टालने की नीति के विरोध में एक और भी ज़बर्दस्त दलील है। आधुनिक युद्ध में राष्ट्र को इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह देश के उद्योग-धंधों, वाणिज्य-व्यवसाय, आर्थिक संगठन, आदि सभी साधनों को युद्ध की आवश्यकताओं के अनुकूल बना ले। युद्ध की समाप्ति के बाद इन सबको फिर शांति-काल की आवश्यकताओं के अनुकूल रूप देना होगा। जिस प्रकार युद्ध छिड़ने पर राष्ट्रों के सम्मुख पुनर्संगठन का भारी कार्य था, उसी प्रकार युद्ध समाप्त होने पर भी उन्हें वैसे ही भारी काम का सामना करना पड़ेगा। यह काम स्वयं ही बहुत भारी होगा, उसे बिला ज़रूरत और भारी बनाना ठीक न होगा। जो प्रश्न युद्ध छिड़ने के पहले ही हल हो सकते थे या युद्ध के समय में भी हल हो सकते हैं, उन्हें युद्ध की समाप्ति तक लटकाये रखने का नतीजा यही हो सकता है कि युद्ध के बाद का भारी काम और भी भारी हो जायगा।

राष्ट्र और आंतरिक संघर्ष

चाहे युद्ध का समय हो और चाहे शांति का, राष्ट्र या सरकार के लिए यह उचित नहीं हो सकता कि वह आंतरिक संघर्ष के प्रति तटस्थ दर्शक बन कर तमाशा देखे। राष्ट्र के भीतर निर्माणात्मक सहयोग होना चाहिए और विविध संस्थाओं या समुदायों के बीच ज़रूरत पड़े तो पंच-फ़ैसला हो सकने की व्यवस्था होनी चाहिए। भारत में उन राजनीतिक सुधारों का हो जाना आवश्यक है जिनसे साम्प्रदायिक झगड़ों का अंत हो जाय, बहुत अर्से से चले आने वाले वाद-विवाद तै हो जायँ, और राष्ट्र की शक्ति सामाजिक उन्नति तथा देश-रक्षा सम्बन्धी कार्यों में लग जाय। ब्रिटिश सरकार की यह नीति कि पहले विभिन्न समुदायों के बीच समझौता हो और तब राजनीतिक उन्नति, मनोविज्ञान के नियमों की उपेक्षा ही नहीं करती, बल्कि उन्हें उलट देना चाहती है। सब देशों का अनुभव यह बताता है कि अगर निर्णय बिलकुल अन्यायपूर्ण न हो तो उसमें कुछ त्रुटियाँ रहते हुए भी प्रायः यह होता है कि सभी समुदाय उसमें कुछ सुधार कराने की कोशिश करते हैं और फिर थोड़े ही समय में उनके बीच एक कामचलाऊ समझौता हो जाता है। उसका परिणाम यह हो सकता है कि राजनीतिक दल शक्ति के बँटवारे के सम्बन्ध में झगड़ते रहने के बजाय उस शक्ति का उपयोग करने में लग जायँ, जिससे एक ओर तो देश की आर्थिक उन्नति में सहायता मिल सकती है और दूसरी ओर ऐसे राजनीतिक दलों का निर्माण हो सकता है जो सम्प्रदायों के नहीं राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर बने हों। उसका परिणाम यह भी हो सकता है कि कांग्रेस और मुसलिम लीग का नियंत्रण ढीला हो जाय, उनके अंदर एक से अधिक दल हो जायँ, और निर्वाचन की टक्कर में दोनों ओर हिंदुओं और मुसलमानों के संयुक्त दल हों।

भारतीय राजनीति में इस समय सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि उन्नति के पहिये जो दलदल में फँस गये हैं वे किसी तरह फिर चल निकलें। निपटारा होने में देर होने का नतीजा यह हुआ है कि जो बातें पहले सर्वमान्य थीं अब वे भी विवादग्रस्त हो गई हैं। भारत एक देश है, उसके विभिन्न सम्प्रदायों के निवासियों के बीच सद्भावना की आवश्यकता है, देश के लिए एक संघ-सरकार होनी चाहिए, शासन-प्रणाली का पार्लीमेंटरी ढंग का होना वांछनीय है, राजनीति को धार्मिक मतमतान्तरों से अलग रहना चाहिए—इन बातों पर भी आज मतभेद दिखाई पड़ने लगा है। अगर निपटारे में और भी देर हुई तो अव्यवस्था और भी बढ़ सकती है या यह भी हो सकता है कि मुसलमान हिंदुओं पर या हिंदू मुसलमानों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगें। ऐसा होने से ब्रिटिश सरकार के लिए युद्ध-काल में भी और उसके बाद भी एक घोर कठिनाई उत्पन्न हो जायगी।

न्यायपूर्ण निपटारा

ज्यों-ज्यों वे भारत के भीतर और बाहर की स्थिति को ठीक-ठीक समझते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बहुत से राजनीतिक हलक़ों का समझौते की ओर झुकाव होने लगा है। मॉरले ने एक बार एक बात कही थी जो हमेशा के लिए ठीक है—राजनीति में जो बात सब से अच्छी होती है वह प्रायः सम्भव नहीं होती और इसलिए कुछ कम अच्छी बात से ही संतोष करना पड़ता है। यह सच है कि कभी-कभी किसी अच्छी बात के मोह में पड़ कर उससे ज़्यादा अच्छी बात को खो देना पड़ता है, परन्तु यह भी सच है कि कभी-कभी सब से अच्छी बात पर ही अड़ने का नतीजा यह होता है कि सब से ख़राब बात हो जाती है। यह सच है कि वाद-विवाद के बहुत समय तक चलते रहने के फल-स्वरूप विभिन्न समुदायों की माँगें बहुत चढ़ गई हैं और उनके

साथ धमकियाँ भी जुड़ गई हैं, इसलिए अब यह सम्भव नहीं है कि कोई भी निपटारा तत्काल सर्वमान्य हो सके। परन्तु यदि वह न्यायपूर्ण है तो सभी समुदायों के वे लोग जो राजनीति की भाषा में नरम दल वाले कहे जा सकते हैं, उसका समर्थन करने लगेंगे और धीरे-धीरे सारा देश उसके द्वारा स्थापित होने वाली संस्थाओं की ओर आकृष्ट हो जायगा। समझौते से संतुष्ट न होने वाले लोगों के विचारों की उग्रता पर निपटारे की न्यायप्रियता विजय प्राप्त कर सकती है। यदि इस समय देश का वायुमंडल वाद-विवाद के धुँए से ढका हुआ है, तो उसके कारण यह न समझ लेना चाहिए कि देश में समझदारी और देशभक्ति का अभाव ही हो गया है।

प्रान्तों की सीमाएँ

देश को राजनीतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर करने के लिए सब से पहले तो यह बात ज़रूरी है कि प्रान्तों की सीमाओं को स्थायी रूप से स्वीकार कर लिया जाय। जब तक भारत में देशी राज्यों का अस्तित्व है तब तक प्रान्तों का भाषा के आधार पर ठीक ढंग से पुनर्निर्माण सम्भव नहीं है। प्रान्तीय सीमाओं का फिर से निर्धारित होना वैसे भी वांछनीय नहीं है। इसका प्रश्न उठने पर छोटे-छोटे समुदायों में भी अपनी भाषा नहीं बल्कि बोली के आधार पर अपना अलग प्रान्त चाहने की मनोवृत्ति उत्पन्न होने लगती है। प्रान्तों के पुनर्निर्माण के प्रश्न को उठाना बरों के छत्ते में हाथ डालना जैसा है। जिन समुदायों के बीच थोड़ा ही सा अंतर है और जो थोड़ा सा ही प्रयत्न करने पर आपस में हेलमेल से रह सकते हैं, वे भी इस प्रश्न के उठने पर अपने पड़ोसियों से अलग होने की बात सोचने लगते हैं। इसलिए अच्छा यही होगा कि प्रान्तों की वर्तमान सीमाओं को स्वीकार करके उनके आधार पर संघ-सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया जाय।

अधिकारों की घोषणा

इस छोटी सी पुस्तक में भारत के भावी विधान की पूरी रूपरेखा पर विचार नहीं किया जा सकता, यहाँ उसकी कुछ ऐसी बातों का ही उल्लेख किया जा सकता है जिनका हिंदू-मुसलिम समस्या से सम्बन्ध है। एक महत्वपूर्ण प्रश्न तो संरक्षणों का है। राजनीतिक बुद्धिमत्ता इसी में है कि प्रत्येक समुदाय को, जहाँ तक सम्भव हो, इस विषय में निश्चित कर दिया जाय कि उसके नागरिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अधिकार नई व्यवस्था में पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानों में इस बात की स्पष्ट घोषणा होनी चाहिए कि सब लोगों को अपना धर्म मानने और उस पर चलने की, अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा तथा उन्नति करने की, शिक्षा प्राप्त करने की, शांति और सुव्यवस्था की मर्यादा के भीतर रह कर सभाएँ करने, संस्थाएँ बनाने और अपनी गुप्त बातों को गुप्त रखने की स्वतंत्रता रहेगी, क़ानून के सामने सब बराबर समझे जायँगे और सब के नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार बराबरी के होंगे। जो साम्प्रदायिक समझौते हों उन्हें भी विधान का अंग बना दिया जाय ताकि मंत्रिमण्डल अथवा कौंसिलों के बहुमत वाले दल उनमें हस्तक्षेप न कर सकें।

न्यायालयों के अधिकार

अदालतों को यह अधिकार होना चाहिए कि अगर वे सरकार के किसी काम या कौंसिल से पास होने वाले किसी क़ानून को विधान के प्रतिकूल या अधिकारों की घोषणा पर आघात करने वाला समझें तो उसे नाजायज़ या ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे सकें। भारत के भावी विधान में इस बात की स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिए कि अदालतें सरकार व कौंसिलों के निर्णयों के वैधानिक या क़ानूनी पहलुओं पर फ़ैसला दे सकती हैं। इसके लिए इस बात की आवश्यकता होगी कि अधिकारों की घोषणा

तथा साम्प्रदायिक निपटारे की भाषा क़ानूनी काग़ज़ात की भाषा की तरह बिलकुल स्पष्ट हो, ताकि अदालतों को उनका मतलब लगाने में कठिनाई न हो। यह तो स्पष्ट ही है कि अदालतें न तो सरकार के मातहत हों और न कौंसिलों के।

विधान में संशोधन

केन्द्रीय विधान के सम्बन्ध में यह नियम होना चाहिए कि उसमें कोई संशोधन करने के लिए केवल बहुमत से ही निर्णय न हो सकेगा बल्कि असेम्बली और कौंसिल दोनों में दो-तिहाई मेम्बरों का समर्थन आवश्यक होगा। यह इसलिए आवश्यक है कि मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की अनुमति के बिना विधान में संशोधन न हो सके। इसके सिवाय अगर अधिकारों की घोषणा अथवा साम्प्रदायिक निपटारे में किसी प्रकार के संशोधन की आवश्यकता उपस्थित हो, तो उसके लिए मुसलमानों तथा अन्य अल्प-संख्यक समुदायों के दो-तिहाई मेम्बरों की अनुमति भी लाज़मी होनी चाहिए। यूरोप की हाल की घटनाओं से यह दिखाई पड़ गया है कि आंतरिक क्रान्तियों तथा अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों के कारण विधान में कही गई बातें भी बेकार हो जाती हैं, लेकिन क्रान्ति या लड़ाई कोई नित्य की घटना नहीं है और इसलिए मोटे तौर पर यह बात ठीक है कि विधान में अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था हो जाने से साम्प्रदायिक सद्भावना और राजनीतिक उदारता की वृद्धि होती है और लोगों को वैधानिक ढंगों से (यानी क़ानून के अंदर रह कर) काम करने की आदत पड़ने लगती है।

संघ-सरकार के अधिकार

एक और महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कौन-कौन अधिकार प्रान्तीय सरकारों के हाथों में रहेंगे, और कौन-कौन केन्द्रीय अथवा संघ-सरकार

के हाथ में। यह तो स्पष्ट ही है कि देश की रक्षा का भार केन्द्रीय सरकार पर रहेगा और इसलिए सेना, जल-सेना और आकाश-सेना उस के नियंत्रण में रहेंगी। आधुनिक समय में युद्ध-नीति ने जैसा व्यापक रूप धारण कर लिया है उसे देखते हुए यह भी आवश्यक है कि विदेशी सरकारों से सम्बन्ध और सम्पर्क रखना, अपने देश के लोगों को विदेश में बसने के लिए जाने देना या न जाने देना, विदेशियों को भारत में बसने की अनुमति देना या न देना, आदि बातें भी उसी के नियंत्रण में रहनी चाहिएँ। उसके इन अधिकारों के परिणाम-स्वरूप रेल, तार, सिक्का, विनिमय की दर आदि बातें भी उसी के अधिकार में रहना आवश्यक होगा। अपने इन विभागों सम्बन्धी कर्तव्यों का सुचारु रूप से पालन कर सकने के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उसे देश भर की आर्थिक उन्नति के लिए आयोजनाएँ तैयार करने और उन्हें कार्यान्वित करने का अधिकार हो। इसका मतलब यह हुआ कि बैंकों और बीमा कम्पनियों पर उसी का नियंत्रण रहेगा और विदेशी माल पर कम या अधिक चुंगी लगाने का अधिकार भी उसी को रहेगा। इसी सिद्धान्त पर मज़दूरों, किसानों आदि के सम्बन्ध में या किसी सम्पत्ति अथवा अधिकार को व्यक्तियों के हाथ से लेकर राष्ट्र के हाथ में दे देने के लिए क़ानून बनाने की शक्ति उसी को होनी चाहिए। इसके सिवाय, इसी सिद्धान्त पर, देश भर में शांति तथा सुव्यवस्था की रक्षा के लिए भी अंतिम उत्तरदायित्व उसी का होना चाहिए। केन्द्रीय सरकार के ऋणों, कर्मचारियों और उनकी पेंशनों का नियंत्रण भी उसी के हाथ में रहेगा, यह तो स्पष्ट ही है। विवाह, तलाक़ और दीवानी व फ़ौजदारी क़ानून की कुछ बातों की बाबत क़ानून बनाने का अधिकार अगर केन्द्रीय सरकार को ही रहे तो अच्छा है, नहीं तो प्रान्तीय क़ानूनों की विभिन्नता के कारण बड़ी गड़बड़ी रहेगी। सर्वे, मर्दुमशुमारी, कला-कारीगरी की शिक्षा, प्राचीन इतिहास की खोज, ऐतिहासिक वस्तुओं की रक्षा,

पेटेंट, कापीराइट, आदि कुछ बातें ऐसी हैं जिनकी बाबत क़ानून पास करने का अधिकार तो केन्द्रीय सरकार को ही होना चाहिए लेकिन उन क़ानूनों के अनुसार कार्य करने में प्रान्तीय सरकारों को स्वाधीनता होनी चाहिए। देश की रक्षा करने, उसके अंदर शांति क़ायम रखने और उसके प्रान्तों के बीच सहयोग की व्यवस्था करने की ज़िम्मेदारी संघ-सरकार की होगी, इसलिए ऊपर जिन अधिकारों का ज़िक्र किया गया है उनके बिना तो उसका काम चल ही नहीं सकता और उनमें कमी कर सकना मुमकिन नहीं है। बाक़ी सब अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दिये जा सकते हैं। इस तरह पुलिस, जेल, शिक्षा, अस्पताल, दवाख़ाने, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफ़ाई, सड़कें, नहरें, आबपाशी, ज़मीन, जंगलात, क़ब्रिस्तान, शराब और दूसरे नशे, ग़रीब, बेकार, दान, सिनेमा, थियेटर, सर्कस, तीर्थयात्रा, आँकड़ों का संग्रह, आदि बातें प्रान्तीय सरकारों के नियंत्रण में रहेंगी। दीवानी और फ़ौजदारी के कुछ मामलों में और म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की बाबत क़ानून बनाने और उनके अनुसार कार्य करने का अधिकार भी उन्हीं को रहेगा। प्रान्तीय सरकारों की अधीनता में काम करने वाले कर्मचारियों से सम्बन्ध रखने वाली बातें तो उनके नियंत्रण में रहेंगी ही। शेष अधिकारों के प्रश्न पर बहुत सा बहस-मुबाहिसा हुआ है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के अधिकार के अंतर्गत आने वाले विषयों की सूचियाँ बना लेने के बाद भी कुछ न कुछ बातें छूट जाती हैं और इन्हीं को शेष अधिकार कहते हैं। इन्हें केन्द्रीय सरकार के अधिकार में रखने के पक्ष में प्रबल तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं, परंतु उन तर्कों की अपेक्षा इस बात में अधिक सार है कि उन्हें प्रान्तीय सरकारों के हाथ में दे देने से सिंध, सीमा प्रान्त, पंजाब, बंगाल और आसाम के मुसलमानों की विधान सम्बन्धी चिंता कम हो जायगी।

विज्ञान और शासन

चालीस करोड़ मनुष्यों के लिए लोकतंत्र शासन की स्थापना एक नई बात होगी। संसार के इतिहास में अभी तक इस शासन-प्रणाली की इतनी बड़ी मात्रा में परीक्षा नहीं हुई है। एक ओर यह बात बड़ी उत्साहप्रद है तो दूसरी ओर इसमें कठिनाइयाँ और ख़तरे भी हैं। इसलिए इसके साथ आवश्यक मात्रा में संरक्षणों का होना भी ज़रूरी है। जिस प्रकार के संरक्षणों की बात हमारे विधान के सम्बन्ध में सोची गई है उनके फल-स्वरूप क़ानूनों के पास होने में देर लग सकती है, शासन-कार्य के सुचारु रूप से चलने में बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं, कुछ बड़े अधिकारियों को मंत्रिमंडलों के फ़ैसलों में हस्तक्षेप कर सकने के लिए विशेष अधिकार दिये जा सकते हैं। लेकिन इन बातों से ही काम नहीं चलेगा। संरक्षणों से हमारा अभिप्राय इस प्रकार की व्यवस्था से है कि ज्ञान और विज्ञान का शासन से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हो जाय। किसी भी देश में जनता का स्वराज्य तभी कामयाब हो सकता है जब उसे जनता की सद्भावना का भी और उसके बुद्धिबल का भी सहयोग प्राप्त हो।

लोकमत का उचित क्षेत्र

लोकतंत्र के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि लोकमत के अनुसार चलने वाला शासन ही लोकतंत्र है। लेकिन किसी भी सरकार का, ख़ास कर सभी दिशाओं में जनता की हालत सुधारने का ध्येय रखने वाली सरकार का, काम केवल मत या राय से नहीं चल सकता। क्या होना चाहिए, इस बात का निर्णय करना तो लोकमत का ही काम हो सकता है, गो इस तरह की बातों का फ़ैसला करने में भी लोकमत को समाजशास्त्र के जानकारों के ज्ञान से बड़ी सहायता मिल सकती है।

क्या होना चाहिए, इस बात का निर्णय हो जाने पर यह सवाल उठता है कि उसे करने का सब से अच्छा तरीक़ा क्या होगा। इस सवाल को हल करने में लोकमत को विशेष सफलता नहीं हो सकती। यह तो वास्तव में उन लोगों का क्षेत्र है जो अपने ज्ञान या अनुभव के कारण उस कार्य के विशेषज्ञ हैं। यहाँ कोरी राय का जानकारी के मुक़ाबले में अधिक महत्व नहीं हो सकता। क्या होना चाहिए, इस बात का निर्णय हो जाने के बाद लोकमत का केवल इतना कार्य और रह जाता है कि वह इस बात का पता रक्खे कि काम ठीक से हो रहा है या नहीं। बस, अगर लोकमत इससे आगे बढ़ता है और राजनीतिक क्षेत्र में अपने को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न करता है, तो यह उसकी भूल है। जो संस्था हर एक बात में दख़ल देने की कोशिश करती है उसके अन्दर चालाकी और मक्कारी की गुंजाइश हो जाती है और वह थोड़े से होशियार लोगों या उनके ग़ुटों के हाथ की कठपुतली बन जाती है।

लोकमत और लोक-शक्ति

लोकतंत्र में लोकमत का इतना अधिक महत्व है कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। परंतु साथ ही यह बात भी उतनी ही महत्वपूर्ण है कि जनता अपने कर्तव्य का भार सँभालने के योग्य हो। जनता की शक्ति है तो बड़ी भारी, लेकिन वह बिखरी हुई है, अपने को ठीक से जान नहीं पाई है, अपना रूप स्थिर नहीं कर पाई है। उसका अपने को पहचान लेना और सुसंगठित हो जाना ही लोकतंत्र के लिए अभीष्ट है। तभी उसका सुचारु रूप से संचालन हो सकता है। अगर लोकमत का विकास समझदारी के साथ ठीक रास्ते पर न हो, तो जनता की शक्ति अपने भीतर ही आंतरिक संघर्ष उत्पन्न करके अपना नाश कर सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि जनता

में शिक्षा का प्रचार हो और उसे आर्थिक तथा राजनीतिक बातों की जानकारी हासिल हो। दूसरी बात यह है कि लोगों के विचार प्रायः अपने समुदाय के दूसरे लोगों के विचारों जैसे ही होते हैं। इसलिए अगर समाज ऐसे समुदायों में विभाजित है जिनका आधार जन्मजात छुटाई-बड़ाई या जाति-भेद या धर्म-भेद है, तो उसके लोगों के विचार सच्चे अर्थ में लोकमत का रूप धारण नहीं कर सकते। राजनीतिक नेताओं को जनता के विचारों और भावनाओं का ध्यान रखना पड़ता है और जहाँ तक मुमकिन हो उनके विरुद्ध न चलने की भी कोशिश करनी पड़ती है, विरुद्ध चलने पर सफलता भी अधिक नहीं मिलती। इसलिए जहाँ जनता में अशिक्षा और नाजानकारी होगी और उसके विचारों में भेदभाव की भावनाएँ प्रबल होंगी, वहाँ अपने-अपने मत का प्रचार करने वाले प्रोपेगेंडा के उचित और अनुचित सभी प्रकार के साधनों से काम लेने लगेंगे और जनता का नेतृत्व संकीर्ण दृष्टिकोण वाले लोगों के हाथ में चले जाने की आशंका रहेगी। आदर्श लोकमत वह है जिसमें भेदभाव की छाया न हो, जो संकीर्णता और स्वार्थभाव से मुक्त हो, जिसके दृष्टिकोण में उदारता तथा व्यापकता हो, और जो लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो। जिस समाज में सामाजिक न्याय की जितनी अधिक स्थापना हो चुकी है उसका लोकमत उतना ही इस आदर्श के निकट होगा। न्याय क्या है? इसकी एक परिभाषा यह है—समाज के भीतर व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की संतोषजनक व्यवस्था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास का अवसर प्राप्त हो सके। समाज की भलाई के लिए ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नशील हो सके और उसके इस प्रयत्न से दूसरे व्यक्तियों के हितों की हानि न हो। सब लोगों को शिक्षा और उन्नति कर सकने के लिए समान अवसर प्राप्त हो, देश में सामाजिक न्याय हो, सच्चा लोकमत हो, लोकतंत्र हो और वैज्ञानिक

शासन हो—ये सब बातें राजनीतिक उन्नति का अंग हैं, यद्यपि अभी किसी देश में वह पूर्णता को नहीं पहुँची है। इन सब बातों के हो सकने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक जीवन में उत्तेजना के बजाय विवेक का साम्राज्य हो, लोग सार्वजनिक मामलों की बाबत न तो उदासीन हों और न इतने कट्टर हों कि सब बातों को अपने मन के मुताबिक़ ही कराने का हठ करें। साधारण जनता में जितना अधिक शिक्षा का प्रचार होगा और समाज का आधार जितना अधिक न्याय-पूर्ण होगा, लोकशक्ति भी उतनी ही अधिक विवेकशील तथा संयत होगी। वह अपनी क्षमता तथा अक्षमता को समझेगी और ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेगी। यह ज़रूरी नहीं है कि हर एक आदमी विज्ञानवेत्ता अथवा विशेषज्ञ हो, परन्तु उसे इतना पता होना चाहिए कि वैज्ञानिक ढंग किसे कहते हैं और उसकी उपयोगिता में विश्वास होना चाहिए। तब राजनीति जुए का खेल न रह जायगी, साधारण व्यक्ति भी और विशेषज्ञ भी सार्वजनिक जीवन के खिलौने न रह जायँगे। साधारण व्यक्ति न मोची होता है और न दर्ज़ी, लेकिन अपने लिए जूते ख़रीदते समय या कपड़े बनवाते समय वह अपनी बुद्धि से मोची या दर्ज़ी के काम के संतोषजनक अथवा असंतोषजनक होने का निर्णय कर लेता है। इसी प्रकार साधारण नागरिक के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि बिना राजनीति का विशेषज्ञ हुए वह राजनीतिज्ञों की बातों के सम्बन्ध में अपना मत निश्चित कर सके। आधुनिक युग में किसी भी शासन-प्रणाली के सुचारु रूप से चल सकने के लिए यह आवश्यक है कि विशेषज्ञ तथा नागरिक के बीच सहयोग हो—विशेषज्ञ कार्य करे और नागरिक उसे जाँचे।

धारा सभा का कार्य

लोकतंत्र में जनता के प्रतिनिधियों की सभा का, जिसे पार्लीमेंट या असेम्बली या कौंसिल या धारा सभा या व्यवस्थापिका सभा आदि नामों

से पुकारा जाता है, बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु जिस प्रकार यह आवश्यक है कि लोकमत सभी बातों में दख़ल न दे, उसी तरह यह भी ज़रूरी है कि धारा सभा भी अपने कार्यक्षेत्र की सीमा निश्चित कर ले। पुराने समय में सभी देशों में शासन-शक्ति या तो एक स्वेच्छाचारी राजा के हाथ में होती थी या सरदारों के वर्ग के हाथ में, फिर धीरे-धीरे वह जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में आई। इस परिवर्तन-काल में धारा सभाओं ने छोटे-बड़े सभी प्रश्नों के सम्बन्ध में सरकार की नीति निर्धारित करने और शासन के सभी विभागों की पूरी-पूरी देख-भाल रखने की कोशिश की है। उन्होंने बहुत सा ऐसा काम किया है जो वास्तव में मंत्रिमंडलों का था। शायद उस समय के अधिकारियों की प्रवृत्ति और लोकमत के रुख़ को देखते हुए उनके सामने कोई दूसरा मार्ग ही नहीं था। परंतु हाल में कई देशों में पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली की असफलता ने यह सिद्ध कर दिया है कि धारा सभाओं ने अपने ऊपर बहुत अधिक काम ले लिया था और उसे वे बड़ी धीमी चाल से कर रही थीं। उन्होंने अपनी क्षमता का अंदाज़ा लगाने में ग़लती की थी। वे यह महसूस नहीं कर पाई थीं कि उन्हें शासन की नीति ही निर्धारित करनी चाहिए और शासन के कार्य में अनुभवी शासकों को कुछ अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिए।

यूरोप में पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली का उदय मध्य वर्ग की जाग्रति का परिणाम था और मध्य वर्ग के शासन के रूप में वह बहुत समय तक सुचारु रूप से चलती रही। परंतु जब सभी वर्गों में जाग्रति फैल गई और सारी जनता का शासन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ गया, तो अब तक जिन ढंगों से काम चल गया था उनमें हेरफेर की ज़रूरत पैदा हो गई। लेकिन पुरानी आदतों को छोड़ना आसान नहीं होता और यह हेरफेर की बात टलती चली गई। नतीजा यह हुआ कि

पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली अपने ऊपर पड़ने वाले नये बोझे को सँभालने में दिक़्क़त महसूस करने लगी और रूस, इटली, जर्मनी, स्पेन, यूगोस्लेविया, पुर्तगाल, आदि जिन देशों में उसकी जड़ मज़बूती से नहीं जम पाई थी वहाँ तो वह बेकार हो गई। जिन देशों ने अभी तानाशाही की प्रणाली को ग्रहण नहीं कर लिया है उनके राजनीतिज्ञों के सामने यह समस्या उपस्थित हो गई है कि पार्लीमेन्टरी प्रणाली में इस प्रकार का सुधार कैसे किया जाय कि सब बातों पर ठीक से विचार भी हो सके और उनका निर्णय होने में विलम्ब भी न हो। सभी राष्ट्रों को अपनी-अपनी परिस्थितियों के प्रकाश में और परिवर्तन-काल की कठिनाइयों को मद्दे-नज़र रखते हुए इस समस्या को हल करना पड़ेगा। फिर भी दो बातें ऐसी मालूम देती हैं जो सभी जगह लागू होंगी। पहली बात तो यह है कि शासन-व्यवस्था ठीक तरह से और बिना अनावश्यक विलम्ब के अपना कार्य करती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें रुकावटों और बाधाओं का जाल न बिछाया जाय। दूसरी बात यह है कि धारा सभाएँ केवल जन-मत की प्रतिनिधि ही न हों बल्कि स्वयं भी सब बातों पर विचार करें, अपना दृष्टिकोण उदार रक्खें और अपने कार्य-क्षेत्र को ध्येय तथा नीति निर्धारित करने तक ही सीमित रक्खें, शासन के प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करने की कोशिश न करें। एक ओर उन्हें दूसरों के विचारों पर ध्यान देने और अगर वे उचित जान पड़ें तो उन्हें ग्रहण करने के लिए तैयार रहना चाहिए, दूसरी ओर उनके साथ ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिएँ जो कार्य-योजनाएँ तैयार करके उनके सामने पेश करती रहें। ये संस्थाएँ केवल परामर्श दे सकेंगी, उनके परामर्शों के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार धारा सभाओं को ही रहेगा। इस प्रकार उनके अधिकार तथा उत्तरदायित्व में कोई कमी आये बिना उनके लिए समझदारी और शीघ्रता से निर्णय कर सकना सम्भव हो जायगा। अब भी क़ानून बनाने वालों को भी और शासकों को

भी नई-नई बातें सुझाते रहने वाले लोग प्रायः उनसे बाहर के ही होते हैं। अच्छा यह होगा कि इस तरह के लोगों को भी राष्ट्र की उन्नति में सहयोग दे सकने के लिए सुविधा कर दी जाय। पार्लीमेन्टरी प्रणाली में धारा सभा के अंतर्गत प्रायः दो सभाएँ होती हैं, जिनमें से पहली के लिए हमारे देश के शासन-विधान में असेम्बली और दूसरी के लिए कौंसिल नाम पड़ गया है। ऊपर हमने जो बात कही है उसे अमली शक्ल देने के लिए यह किया जा सकता है कि कौंसिल में विभिन्न विद्याओं, कला-कारीगरियों और व्यवसायों के प्रतिनिधि रहें। इस तरह एक-एक काम में लगे हुए लोगों की नगर-नगर और ज़िले-ज़िले में समितियाँ बन कर प्रान्तीय और भारतीय समितियाँ भी बन जायँगी। ये समितियाँ अपनी विद्या अथवा कारीगरी के गौरव की रक्षा करने के साथ ही अपने सदस्यों के हिताहित की बाबत भी सचेष्ट रहेंगी और साथ ही देश की आर्थिक उन्नति के लिए आयोजनाएँ तैयार कराने और उन्हें स्वीकार कराने में भी सहायक हो सकेंगी। धारा सभा के साथ आर्थिक प्रश्नों पर परामर्श देने के लिए कोई कमेटी हो तो उसमें इन समितियों के नेताओं, मंत्रियों और विशेषज्ञों के बीच विचार-विनिमय हो सकता है। इस प्रस्ताव के विरोध में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की शासन-व्यवस्था बड़ी जटिल और पेचीदा मालूम देती है। परन्तु आधुनिक सभ्यता भी तो बड़ी जटिल है, और शासन-व्यवस्था को भी उसके अनुकूल बनना पड़ेगा। जीवन की जटिलता के बीच सीधी-सादी शासन-व्यवस्था की कल्पना हानिकारक ही हो सकती है। इसके सिवाय यह बात याद रखनी चाहिए कि इस प्रकार की कमेटियों का काम सिर्फ़ सलाह मशविरा देना ही होगा, असली शक्ति और ज़िम्मेदारी तो धारा सभा और मंत्रिमंडल की ही रहेगी।

मंत्रिमंडल

धारा सभाओं की भाँति ही मंत्रिमंडलों के स्वरूप में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। उनके साथ विशेषज्ञों के बोर्डों का रहना ज़रूरी है जिनके सदस्य केवल सिविल सर्वेन्ट (सरकारी अफ़सर) ही नहीं बल्कि वास्तव में अपने विषयों के जानकार और अनुभवी विशेषज्ञ हों। इस तरह के बोर्डों का न होना अब तक की लोकतंत्र शासन-प्रणाली में एक भारी कमी थी और पिछले पच्चीस वर्षों में उसे जिस असफलता का सामना करना पड़ा है, उसकी एक ख़ास वजह भी उसकी यही कमी थी। पुराने समय में लोकतंत्र शासन पर जनता की सर्वाङ्गीण उन्नति का भार नहीं था, उसका ध्येय केवल इतना था कि नरेशों और सामंतों की स्वेच्छाचारिता का अंत हो जाय। उस समय की आवश्यकताओं को देखते हुए केवल राजनीतिज्ञों के मंत्रिमंडल काफ़ी थे। लेकिन अब यह महसूस किया जाने लगा है कि ध्येय तथा नीति का निर्णय हो जाने पर उसके अनुसार आवश्यक कार्यवाही की व्यवस्था करना विशेषज्ञों का कार्य होना चाहिए और राजनीतिज्ञों के मंत्रिमंडल का कार्य बस यही होना चाहिए कि वह इस व्यवस्था की निगरानी और विभिन्न विभागों के विशेषज्ञों के कार्यों के बीच सामंजस्य और सहयोग का प्रबन्ध करता रहे। आधुनिक युग में मंत्रिमंडल की सहायता के लिए ऐसे बोर्डों और कमीशनों की आवश्यकता है जो निर्धारित नीति के अंदर रहते हुए अपने अपने विभाग के कार्यकलाप के सम्बन्ध में स्वाधीन होंगे। कृषि, शिक्षा, वैदेशिक व्यापार, रेल, तार, बिजली, औद्योगिक उन्नति, सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति, आदि, आदि विषयों के लिए अलग-अलग बोर्ड या कमीशन होने चाहिएँ। इनके सदस्य मंत्रिमंडल के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए, उदाहरणतः पाँच-पाँच या सात-सात वर्ष के लिए नियुक्त होंगे। वे अपने कामों की बाबत

धारा सभा के सामने जवाबदेह न होंगे। अगर मंत्रिमंडल किसी कारण से इस्तीफ़ा देने का निश्चय करे तो उन्हें भी साथ में त्यागपत्र न देना होगा। अगर किसी बोर्ड या कमीशन के किसी सदस्य को उसके पद से हटाना अभीष्ट हो तो इसके लिए यह आवश्यक होगा कि धारा सभा गवर्नर या गवर्नर-जनरल से इस आशय की सिफ़ारिश करे और उस पर सभा के कम से कम दो-तिहाई सदस्यों के दस्तख़त हों। मंत्रिमंडल इन बोर्डों और कमीशनों के काम की निगरानी करता रहेगा लेकिन तफ़सील की बातों में दख़ल देने की कोशिश न करेगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन बोर्डों और कमीशनों का काम ध्येय अथवा नीति का निश्चय करना नहीं बल्कि उसके निश्चित हो जाने पर उसे कार्य रूप में परिणत करना होगा। डाक्टरी और रेल-तार के विभागों के सम्बन्ध में कई देशों में इस सिद्धान्त पर अमल किया जाने लगा है। ज़रूरत इस बात की है कि इसे सभी विभागों के सम्बन्ध में मान लिया जाय। इसके सिवाय एक नया महकमा योग्यता विभाग के नाम से क़ायम किया जा सकता है। इसका काम इस बात की जाँच करते रहना होगा कि विभिन्न विभागों के कर्मचारी उन्हें कितनी योग्यतापूर्वक चला रहे हैं और उनके ढंगों में कहाँ-कहाँ और किस-किस सुधार की गुंजाइश है। अलग-अलग महकमों के लिए सलाहकार समितियाँ भी बनाई जा सकती हैं जो उनके कामों की संयत ढंग से आलोचना भी करती रहेंगी और उन्हें नई-नई बातें भी सुझाती रहेंगी। उनकी बदौलत शासन और लोकमत के बीच स्थायी सम्बन्ध जुड़ जायगा। बोर्डों और कमीशनों की सहायता से शासन करने वाले मंत्रिमंडल की बाबत यह आशा की जा सकती है कि वह विवेक के मार्ग पर चलेगा। समाज की सारी व्यवस्था में ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्याप्त हो जाने की आवश्यकता है और ऊपर जो प्रस्ताव किये गये हैं उनसे इस बात में सहायता मिलेगी।

शासन और राजनीति का पृथक्करण

यह तो स्पष्ट है कि शासन की जटिल और वैज्ञानिक व्यवस्था का लोकमत नियंत्रण नहीं कर सकता। लेकिन साथ ही इसका अर्थ यह भी नहीं है कि एक निरंकुश और स्वेच्छाचारी नौकरशाही क़ायम हो जाय। मतलब केवल यह है कि पहले समाजशास्त्र के जानकार समाज की परिस्थिति पर निष्पक्षतापूर्वक विचार करके आर्थिक उन्नति के कार्यक्रम तैयार करेंगे और फिर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले अनुभवी विशेषज्ञ उन्हें अमली शक्ल देंगे। उन्नतिशील देशों के अनुभव से यह बात प्रकट हो गई है कि शासन विभाग के अधिकारियों को वास्तव में अपने कार्य-क्षेत्र में उसी तरह की जानकारी और मनोवृत्ति की आवश्यकता है जैसी डाक्टरों, इंजीनिअरों, आदि में अपने काम की बाबत होती है। आमद-रफ़्त और व्यापार के साधनों की उन्नति के फल-स्वरूप आधुनिक युग के दृष्टिकोण में बड़ा विस्तार हो गया है, इसलिए अब अधिकारियों के लिए भी आवश्यक हो गया है कि वे उन्नति और सुधार के लिए बड़ी-बड़ी आयोजनाएँ बना सकें और उन पर अमल करने के लिए बड़े-बड़े कार्यक्रम तैयार कर सकें। परन्तु इस प्रकार की शासन-व्यवस्था तभी चल सकती है जब कि साधारण जनता में इतनी शिक्षा और जाग्रति फैल चुकी हो कि वह उत्तेजना और भावना की अपेक्षा विवेक को, और अनियमित ढंग से आगे बढ़ने की अपेक्षा उन्नति के वैज्ञानिक ढंग को अधिक महत्व दे सके। भारत में जो परिस्थिति है उसे देखते हुए यह सब से अधिक आवश्यक बात है कि शासन और दलबंदी वाली राजनीति के बीच यथासम्भव कम से कम सम्बन्ध रहे। इससे धारा सभा ऐसे कामों से मुक्ति पा जायगी जो वास्तव में उसके कार्य-क्षेत्र से बाहर हैं और जिन्हें वह ख़ूबसूरती के साथ नहीं कर सकती। इससे साम्प्रदायिक कटुता का बढ़ना भी रुकेगा क्योंकि देश के शासन में एक

दल विशेष का प्रभुत्व हो जाने से विभिन्न सम्प्रदायों के बीच मनोमालिन्य की वृद्धि होगी। अगर भारत को पार्लीमेन्टरी प्रणाली की परीक्षा करनी है तो उसे यूरोप और अमरीका के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और उन ग़लतियों से बचना चाहिए जो कि वहाँ पिछले सौ बरसों में हुई हैं। भारत को इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि इतने देशों में पार्लीमेन्टरी प्रणाली क्यों असफल हुई और शुरू ही से अपने यहाँ ऐसी राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी व्यवस्था करनी चाहिए जो मौजूदा ज़माने की ज़रूरतों को पूरा कर सकती हो।

संयुक्त मंत्रिमंडल

ऊपर जिन बातों का उल्लेख किया जा चुका है, उन्हें ध्यान में रखते हुए अब हम कुछ ऐसे प्रस्तावों पर विचार करेंगे जिनसे विभिन्न सम्प्रदायों के हितों और सम्बन्धों के बीच सामंजस्य स्थापित होने में सहायता मिल सकती है। इनमें से पहली बात तो यह है कि मंत्रिमंडल एक दल के होने के बजाय एक से अधिक राजनीतिक दलों के सहयोग से बनने चाहिएँ। संयुक्त मंत्रिमंडलों में कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती हैं, परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थिति में वे अनिवार्य हैं। लोकतंत्र का अर्थ है बहुमत का शासन, और उसके लिए देश का सार्वजनिक जीवन ऐसा होना चाहिए कि जिस दल के साथ आज बहुमत नहीं है वह कल उसे अपने पक्ष में कर लेने की कोशिश कर सके। परन्तु यदि देश में एक से अधिक धर्मों के अनुयायी रहते हैं और वे इस साम्प्रदायिक भेद को राजनीति से अलग नहीं रख सकते, तो फिर जिस दल का बहुमत है उसका बहुमत ही रहेगा और जो छोटा है वह छोटा ही रहेगा। ऐसी स्थिति में संयुक्त मंत्रिमण्डल राजनीतिक ही नहीं, नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक हो जाता है। आगे चल कर यह सम्भव हो जायगा कि

सम्प्रदायों के नहीं, राजनीतिक और आर्थिक विचारों के आधार पर विभिन्न दलों का संगठन होने लगे। तब सभी दलों में हिंदू और मुसलमान कार्यकर्त्ता मिल कर काम करने लगेंगे और तभी एक-एक दल के मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हो सकेगा। सम्राट की ओर से गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के नाम जो आदेशपत्र निकलते हैं उनमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया जा सकता है कि संयुक्त मंत्रिमंडल बनाये जायँगे। अगर अल्प-संख्यक समुदायों को इस ढंग से संतोष न हो तो ऐसी व्यवस्था हो सकती है कि मंत्रिमंडल का चुनाव असेम्बली के मेम्बरों के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व के ढंग से किया जाय और उसमें किस-किस सम्प्रदाय के कितने-कितने प्रतिनिधि रहेंगे, यह बात पहले से तै हो जाय। परन्तु अनुभव से यह मालूम हो गया है कि यह ढंग अच्छा नहीं है, इसके फल-स्वरूप राजनीतिक दलों के अंदर छोटे-छोटे गुट बनने लगते हैं और स्थायी या टिकाऊ मन्त्रिमण्डलों का बन सकना कठिन हो जाता है। आदेशपत्र वाला ढंग इससे अच्छा है।

समझौता बोर्ड

इसके सिवाय एक ऐसे बोर्ड की स्थापना भी वांछनीय है जिसका नाम समझौता बोर्ड हो सकता है। इसका काम यह होगा कि जिन साम्प्रदायिक प्रश्नों पर धारा सभा या मंत्रिमंडल चाहे उन पर उसे परामर्श दे। इसके सिवाय यह बोर्ड स्वयं भी विभिन्न प्रश्नों का अध्ययन करता रहेगा और अपनी ओर से भी जो उचित समझेगा, प्रस्ताव कर सकेगा। इसके कुछ सदस्यों का चुनाव तो धारा सभा के विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्य अलग-अलग, अपनी-अपनी संख्या के अनुसार, कर सकते हैं, और ये निर्वाचित सदस्य कुछ अन्य लोगों को भी अपने बोर्ड का सदस्य बना सकते हैं। इस प्रकार का स्थायी बोर्ड राजनीतिक क्षेत्र में एक सम्मानित और प्रभावशाली संस्था बन सकता है। इससे एक लाभ यह

होगा कि बहुत से साम्प्रदायिक प्रश्नों पर धारा सभा में सार्वजनिक रूप से वाद विवाद होने के बजाय शान्तिपूर्वक विचार-विनिमय हो सकेगा और इस तरह समझौता हो सकने में आसानी रहेगी।

मेलजोल कमेटियाँ

समझौता बोर्ड की सहायता के लिए नगरों में और अगर ज़रूरत हो तो ज़िलों, तहसीलों और गाँवों में मेलजोल कमेटियाँ क़ायम की जा सकती हैं। ये कमेटियाँ स्थायी होंगी और इनके मेम्बरों को ज़िलों के हाकिम नामज़द करेंगे। व्यक्ति विशेष अब भी हिन्दू-मुसलमानों के बीच सद्भावना की वृद्धि के लिए प्रयत्न करते रहते हैं, इस प्रकार की कमेटियों की स्थापना से इन प्रयत्नों की उपयोगिता कई गुनी बढ़ जायगी। ईसाई, पारसी, आदि दूसरे लोग जो हिन्दू-मुसलिम प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकते हैं, इन कमेटियों के कामों में बड़े सहायक हो सकते हैं।

साम्प्रदायिक निर्णय और पूना पैक्ट

केन्द्रीय और प्रान्तीय धारा सभाओं में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों का अनुपात स्थायी रूप से स्थिर हो जाना चाहिए। चार मोटी बातें ऐसी हैं जिन्हें पूरा किये बिना कोई भी साम्प्रदायिक समझौता न तो टिकाऊ हो सकता है और न सामाजिक हेलमेल बढ़ाने में सहायक।

(१) समझौता ऐसा न होना चाहिए कि जो सम्प्रदाय अल्प-संख्यक है उसके प्रतिनिधियों की संख्या उसके अनुपात से भी कम हो। (२) अल्प-संख्यक समुदायों के प्रतिनिधियों की संख्या उनके अनुपात से कुछ अधिक होनी चाहिए, और जिस समुदाय की संख्या जितनी कम हो उसके साथ इस मामले में उतनी ही अधिक रिआयत होनी चाहिए।

(३) अल्प-संख्यकों को जो विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाय वह इतना अधिक न होना चाहिए कि उससे न्याय का गला घुटता हो और उसे मनवाने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती करने की ज़रूरत पड़े। (४) समझौता ऐसा न होना चाहिए कि बहुसंख्यक समुदाय की स्थिति अल्प-संख्यक समुदाय जैसी हो जाय अथवा अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधि मिल कर उसके प्रतिनिधियों के बराबर हो जायँ।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए उचित यही मालूम देता है कि सन् १९३२ वाले प्रधान मंत्री स्वर्गीय मि० मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय तथा हरिजनों सम्बन्धी उसी वर्ष के पूना पैक्ट को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया जाय। परन्तु बंगाल के प्रश्न पर फिर से विचार होना आवश्यक है। इस निर्णय तथा पैक्ट का परिणाम बंगाल में यह हुआ है कि उसकी धारा सभा में मुसलमानों को तो बहुसंख्यक सम्प्रदाय होते हुए भी बहुमत नहीं मिला है और अल्पसंख्यक हिन्दुओं को अपने अनुपात से भी कम प्रतिनिधित्व मिला है। यूरोपिअन तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों को उनके अनुपात से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व दे कर उनकी स्थिति ऐसी कर दी गई है कि जिस प्रश्न पर भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मतभेद हो उस पर इन्हीं के मत के अनुसार निर्णय होगा।

केन्द्रीय धारा सभा में प्रतिनिधित्व

केन्द्रीय धारा सभा के सदस्यों के साम्प्रदायिक अनुपात का प्रश्न देशी राज्यों के कारण और भी जटिल हो जाता है। परन्तु जहाँ तक ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का प्रश्न है वहाँ तक तो सन् १९३२ वाले ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के इस निर्णय को स्वीकार कर लेना ही ठीक होगा कि मुसलिम प्रतिनिधियों की संख्या ३० प्रतिशत रहेगी। यदि इस संख्या में हेरफेर कराने की कोशिश की जायगी तो बड़ा घोर वादविवाद उठ खड़ा होगा और सार्वजनिक जीवन में कटुता बढ़ेगी। साथ ही यह कह

संयुक्त निर्वाचन

अब यह प्रश्न आता है कि धारा सभाओं के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार हो। पृथक-निर्वाचन-प्रणाली का तीखा अनुभव यह बताता है कि जितनी जल्द सम्भव हो उसका अंत हो कर संयुक्त-निर्वाचन-प्रणाली जारी हो जानी चाहिए। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित रहेगी, परन्तु उनका चुनाव सब सम्प्रदायों के वोटर मिल कर करेंगे। होना तो यही चाहिए, लेकिन जो बात पहले से चली आ रही है उसे फ़ौरन मिटाया तो नहीं जा सकता। जब तक मुसलमान संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार नहीं करते तब तक उसमें कुछ और शर्तें जोड़नी होंगी। उदाहरणतः एक समय स्वर्गीय मौलाना मुहम्मद अली और कुछ अन्य सज्जनों ने यह प्रस्ताव किया था कि धारा सभाओं के मेम्बरों का चुनाव हिंदू और मुसलमान वोटर मिल कर करें लेकिन जिस हिंदू उम्मीदवार को मुसलमानों के या जिस मुसलिम उम्मीदवार को हिंदुओं के २० या २५ प्रतिशत वोट भी न मिले हों वह अपने सहधर्मियों के बहुत अधिक वोट मिलने पर भी चुनाव में हारा हुआ समझा जायगा। इससे मिलती-जुलती व्यवस्था हो जाने से यह लाभ होगा कि जो भी उम्मीदवार निर्वाचन में सफल होंगे उन्हें दोनों ही सम्प्रदायों के हितों का ध्यान रखना पड़ेगा, वे किसी एक सम्प्रदाय के लोगों के विचारों और भावनाओं की उपेक्षा न कर सकेंगे। यह भी न होगा कि ऐसे मुसलिम उम्मीदवार चुनाव में सफल हो जायँ जो हिंदुओं के पिट्ठू कहे जा सकते हों। यही बात मुसलमानों के पिट्ठू कहे जा सकने वाले हिंदू उम्मीदवारों की बाबत भी समझनी चाहिए। परन्तु मौ० मुहम्मद अली का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उसका जिन कारणों से विरोध हुआ था उनमें उसकी एक त्रुटि भी थी। अगर किसी भी हिंदू उम्मीदवार

को मुसलमान वोटरों के या किसी भी मुसलमान उम्मीदवार को हिंदू वोटरों के २० या २५ प्रतिशत वोट न मिलें, तो क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर उस प्रस्ताव में नहीं था। यह सम्भव है कि उम्मीदवारों की संख्या अधिक होने के कारण किसी भी उम्मीदवार को अपने से भिन्न सम्प्रदाय के वोटरों के उतने प्रतिशत वोट न मिल सकें जितने कि समझौते में निश्चित हुए हों। ऐसी हालत में क्या होगा ? इस सम्बन्ध में यह नियम बनाया जा सकता है कि ऐसी हालत में जिस उम्मीदवार को अपने सम्प्रदाय के वोटरों के सब से अधिक वोट मिले हों वह निर्वाचित हुआ मान लिया जायगा। इसका मतलब यह हुआ कि ऐसी हालत में कहने को संयुक्त निर्वाचन होते हुए भी वास्तव में पृथक निर्वाचन हो जायगा। इस प्रकार की प्रणाली के विरोध में तर्क तो बहुत दिये जा सकते हैं। लेकिन अगर इतना भी हो जाय तो अच्छा ही है। पृथक निर्वाचन के समर्थकों को कोई शिकायत भी न होगी और संयुक्त निर्वाचन का, कटे-छँटे रूप में ही सही, श्रीगणेश तो हो ही जायगा, आगे चल कर अनुकूल परिस्थिति होने पर उसमें सुधार होता रहेगा।

पेशे के आधार पर

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं में असेम्बली के लिए तो वह निर्वाचन-प्रणाली ठीक होगी जिसका हमने अभी उल्लेख किया है और जो अंशतः संयुक्त और अंशतः पृथक निर्वाचन की व्यवस्था है। परंतु कौंसिल के निर्वाचन के लिए एक दूसरे प्रकार की व्यवस्था हो सकती है, वह यह कि एक-एक पेशे में लगे हुए लोग मिल कर अपने-अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करें। यदि आवश्यकता समझी जाय तो उनमें विभिन्न सम्प्रदाओं के प्रतिनिधियों की संख्या नियत की जा सकती है। एक पेशे के लोगों में, उनका हिताहित एक होने के कारण, किसी हद

तक एकता की भावना होती है, यद्यपि सम्प्रदाय की दृष्टि से वे सब एक समुदाय के नहीं होते। इस प्रकार के चुनाव से इस एकता की भावना में बढ़ती होगी और साम्प्रदायिकता की भावना में कुछ कमी। यह अच्छी ही बात है। इस प्रणाली में एक भारी कठिनाई है, वह यह कि किस पेशे के लोगों को कितने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जाय। परन्तु यह ऐसी भारी बाधा नहीं है कि इसके कारण इस प्रणाली को ही अस्वीकार करना आवश्यक हो। राजनीतिक शक्ति तो वास्तव में असेम्बली में रहती है, कौंसिल तो बस उस पर कुछ प्रभाव डाल सकती है। अगर कौंसिल का पद परामर्शदाता का पद मान लिया जाय तो उपरोक्त कठिनाई का महत्व अधिक नहीं रह जायगा।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन

भारत में कई प्रकार की निर्वाचन-प्रणालियाँ जारी होना बुरी बात न होगी, क्योंकि उनकी परीक्षा हो जाने पर ही यह मालूम हो सकेगा कि कहाँ के लिए कौनसी प्रणाली विशेष रूप से उपयुक्त है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन अर्थात् प्रतिनिधियों का स्वयं वोटरों के बजाय मध्यस्थों द्वारा चुनाव कई दृष्टियों से बहुत अच्छा है, परंतु उसका उपयोग सभी चुनावों के लिए नहीं किया जा सकता। इस प्रणाली में ये त्रुटियाँ हैं कि जनता और उसके प्रतिनिधियों के बीच बड़ी दूरी पैदा हो जाती है जिसके कारण प्रतिनिधियों में जनता के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी की भावना पूरी तरह जाग्रत नहीं हो पाती, जनता चुनाव के समय के वादविवादों से होने वाले लाभ से वंचित रह जाती है, स्थानीय चुनावों में स्थानीय सवालों के बजाय भारतीय और प्रान्तीय प्रश्नों पर बहस होने लगती है, और मध्यस्थों की संख्या कम होने के कारण उनके वोट ख़रीदे जाने या ग़ैरवाजिबी दबाव से हासिल किये जाने की सम्भावना भी उठ खड़ी होती है। इसलिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन का उपयोग बहुत सोच समझ

कर करना होगा। उसकी अच्छाइयों और बुराइयों पर विचार करके यह मालूम देता है कि यह प्रणाली ताल्लुक़ा या तहसील बोर्डों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के चुनाव के लिए उपयुक्त है। इन बोर्डों के चुनाव के लिए यह क़ायदा बनाया जा सकता है कि बड़े-बड़े गाँव अपना-अपना एक-एक, और छोटे गाँव कई-कई मिल कर एक-एक निर्वाचक चुनें। ज़िला या तहसील के प्रति उसके निवासियों की न तो वह भावना होती है जो अपने गाँव या नगर के प्रति होती है और न वह प्रान्त की भाँति किसी बड़ी बात में स्वाधीन ही हो सकता है। ज़िले और तहसील तो केवल प्रबंध की सुविधा के लिए बनाये जाते हैं। अगर इनके बोर्डों का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर हो तो हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक होगा। पूर्णतः या अंशतः साम्प्रदायिक आधार पर होने वाले चुनाव के फल-स्वरूप देहात में जो व्यर्थ की उत्तेजना उत्पन्न होती है उसका न होना ही अच्छा होगा।

ग्राम-सभाएँ

बड़े-बड़े गाँवों के लिए अलग-अलग और छोटे-छोटे गाँवों में कई-कई को मिला कर उनकी ग्राम-सभाएँ होनी चाहिएँ। इस सभाओं की स्थापना के दो उद्देश्य होंगे, एक तो यह कि ग्रामीणों के बीच भाईचारे की भावना बढ़े और दूसरा यह कि वे शिक्षा, सफ़ाई, सड़कों और खेती की उन्नति में सहायक हो सकें। खेती की उन्नति के लिए नये ढंग के औज़ारों के उपयोग के सिवाय इस बात की भी ज़रूरत हो सकती है कि जिन किसानों के खेत छोटे-छोटे हों और पास-पास हों, वे मिल कर खेती करें और फिर पैदावार का बँटवारा कर लें। इन कार्यों में गाँवों के सभी निवासियों का सहयोग रहना चाहिए और प्रान्तीय धारा सभा से बनने वाले क़ानूनों के भीतर रह कर उन्हें अपने अधिकारों का मिल-जुल कर उपयोग करना चाहिए। यदि ग्राम-सभाओं के सदस्य निर्वाचित

करने के बजाय सभी ग्रामनिवासियों को अपने-अपने यहाँ की ग्राम-सभा का सदस्य मान लिया जाय तो कोई बुराई की बात न होगी। सन् १६३१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार ब्रिटिश भारत के एक गाँव की औसत आबादी ४१२ है। अगर नाबालिग़ों को छोड़ दिया जाय तो एक-एक ग्राम-सभा के सदस्यों की संख्या औसतन २०० के लगभग होगी, और इसलिए सभा की मीटिंगों में उपस्थित सदस्यों की संख्या प्रायः १०० से अधिक न होगी। इस प्रकार सभी लोगों के लिए स्वराज्य में भाग लेना सम्भव होगा और प्राचीन ग्रीस के अनुभव के आधार पर यह आशा की जा सकती है कि वे अपने स्थानीय मामलों में अच्छी दिलचस्पी लेंगे और इस प्रकार उनमें स्वराज्य अथवा लोकतंत्र की योग्यता का विकास होगा। इस प्रकार की व्यवस्था के सम्बन्ध में दो एतराज़ हो सकते हैं, एक तो यह कि सभा अपने पदाधिकारियों को जल्दी-जल्दी बदल कर उनके काम में रुकावट पैदा कर सकती है और दूसरा यह कि सब बातों का निर्णय बहुमत से होने के फल-स्वरूप अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के लोगों के हितों की हानि हो सकती है। इन दोनों एतराज़ों को दूर करने के लिए ग्राम-सभाओं के सम्बन्ध में दो नियम बनाने पड़ेंगे, एक तो यह कि उनकी कमेटियों के हिंदू और मुसलमान सदस्यों की संख्या एक पूर्व-निश्चित अनुपात में रहेगी और दूसरा यह कि मुखिया और कमेटियों के अध्यक्ष आदि मुख्य पदाधिकारियों के चुनाव और महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए दो-तिहाई बहुमत आवश्यक होगा।

नामज़दगी

अन्त में स्थानीय, प्रान्तीय तथा भारतीय सभी संस्थाओं के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्वाचन-प्रणाली पर बहुत अधिक भार न डाला जाय। लोकतंत्र के सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं है कि सभी

पदों के लिए चुनाव ही हो। जिन पदों पर लोगों को अवैतनिक रूप से काम करना पड़ता है, उनमें से अधिकांश के लिए चेअरमैन को पदाधिकारियों की नामज़दगी या नियुक्ति करने का अधिकार दिया जा सकता है। जिन पदों पर वेतन-भोगी लोग रहते हैं उनकी नियुक्ति के लिए प्रतियोगितापूर्ण परीक्षा का सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है। हाँ, परीक्षा-फल के आधार पर नियुक्तियाँ होने का सिद्धान्त मान लेने पर भी यह नियम बनाना पड़ेगा कि अल्प-संख्यक समुदायों के उम्मीदवारों को कम से कम इतनी नौकरियाँ मिल जायँगी।

बोर्ड, कमेटियाँ और नौकरियाँ

ऊपर धारा सभाओं के सदस्यों के सम्बन्ध में साम्प्रदायिक अनुपात के प्रश्न को ले कर हम चार सिद्धान्तों का उल्लेख कर चुके हैं। सरकार के मुख़्तलिफ़ महकमों के लिए जो सलाहकार बोर्ड या कमेटियाँ बनें उनके सम्बन्ध में भी वे सिद्धान्त मोटे तौर पर ठीक हैं। यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि सरकारी नौकरियों ही के लिए नहीं, बल्कि डिस्ट्रिक्ट, म्यूनिसिपल और स्थानीय बोर्डों की नौकरियों के लिए भी नियुक्तियाँ पबलिक सर्विस कमीशनों के द्वारा होनी चाहिएँ जो अपने कार्यक्षेत्र में काफ़ी स्वतंत्र हों। और इन नियुक्तियों के लिए जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक पद के लिए अलग-अलग परीक्षा होनी चाहिए और नियुक्तियाँ परीक्षाफल के अनुसार ही होनी चाहिएँ। इससे कई लाभ होंगे। एक तो अयोग्य व्यक्तियों को ऐसी नौकरियाँ न मिल सकेंगी जिनका काम वे ठीक से नहीं चला सकते, दूसरे लोगों में अच्छी नौकरियाँ पा सकने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी, तीसरे बड़े अफ़सर व्यर्थ के झंझट और पक्षपात कर सकने की सम्भावना से छुट्टी पा जायँगे, चौथे सार्वजनिक जीवन दूषित होने से बचेगा, पाँचवें साम्प्रदायिक बदगुमानी का एक कारण दूर हो जायगा। जो

ग़ैर-सरकारी संस्थाएँ अपने कर्मचारियों में सभी सम्प्रदायों के लोगों को स्थान देती हैं, वे अपना हित तो करती ही हैं, साथ ही जनता में भी पारस्परिक विश्वास तथा सहयोग की भावना का विकास करने में सहायक होती हैं।

"स्कॉच वोट"

पार्लीमेन्टरी शासन-प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातें ऐसी हैं कि ब्रिटेन के विधान में तो उनका उल्लेख नहीं है, परंतु उनका पालन करने की वहाँ परम्परा पड़ गई है। इनमें से कुछ बातों का ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त देशों के विधानों में उल्लेख भी कर दिया गया है। इसी तरह की एक परम्परा "स्कॉच वोट" कहलाती है। स्कॉटलैंड ब्रिटेन का एक भाग है और दूसरे भागों की तरह ब्रिटिश पार्लीमेन्ट के कुछ सदस्यों का चुनाव भी करता है। परंतु जब पार्लीमेंट में कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है जिसका सम्बन्ध केवल स्कॉटलैंड से ही हो, तो उसके सम्बन्ध में होने वाले वादविवाद और वोटिंग में केवल स्कॉच (यानी स्कॉटलैंडवाले) मेम्बर ही भाग लेते हैं, दूसरे भागों के मेम्बर न बहस-मुबाहसे में शरीक होते हैं और न किसी ओर वोट देते हैं। भारत की धारा सभाओं के लिए भी "स्कॉच वोट" के सिद्धान्त को मान लेना अच्छा होगा। जब धारा सभा के सामने कोई ऐसा क़ानून पेश हो जिसका केवल एक ही सम्प्रदाय की संस्कृति या रीति-रिवाज से सम्बन्ध हो तो उसका निर्णय करने में केवल उसी सम्प्रदाय के सदस्य भाग लें। इस तरह की बातों का निर्णय करने के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के सदस्यों की स्थायी समितियाँ बनाई जा सकती हैं। अगर अल्प-संख्यक समुदायों को इस बात से एतराज़ न हो तो इन कमेटियों में अन्य सम्प्रदायों के कुछ सदस्य भी सम्मिलित किये जा सकते हैं, परंतु उनकी संख्या कमेटी के कुल सदस्यों की संख्या के २० प्रतिशत से

अधिक न होनी चाहिए। इस प्रकार की व्यवस्था से जनता में यह भावना बढ़ेगी कि उनकी संस्कृति में बाहरी लोग हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अगर किसी बात की बाबत यह प्रश्न उठे कि उसका एक ही सम्प्रदाय की संस्कृति से सम्बन्ध होने की बात ठीक है या ग़लत या अगर यह सवाल उठे कि प्रस्तुत बात देश के दीवानी क़ानून के अंदर आती है या किसी सम्प्रदाय विशेष के निजी क़ानून के अंदर, तो इसका फ़ैसला धारा सभा की असेम्बली के प्रेसीडेंट समझौता बोर्ड की सलाह ले कर करेंगे।

आवश्यक परम्पराएँ

कुछ बातें ऐसी है जिन्हें विधान सम्बन्धी क़ानून में तो स्थान नहीं दिया जा सकता, लेकिन जिन्हें आपसी समझौते के आधार पर परम्परा के रूप में स्वीकार कर लेना आवश्यक है। इन परम्पराओं के बन जाने से साम्प्रदायिक संघर्ष की सम्भावना में भी कमी होगी और शासन में सुधार होगा। राजनीतिक दलों के बड़े नेताओं को, जिनके लिए "हाई कमांड" शब्द चल निकला है, अपने प्रान्तीय मंत्रिमंडलों को कुछ और स्वतंत्रता देनी चाहिए, उन पर इतना कड़ा नियंत्रण न रखना चाहिए। इस नियंत्रण का एक परिणाम यह होता है कि प्रान्तीय धारा सभाओं के अल्प-संख्यक समुदाय अपने प्रान्तों के मंत्रिमंडलों पर उतना भी प्रभाव नहीं डाल पाते जितना कि इस नियंत्रण के न होने पर डाल सकते थे। दूसरी बात यह है कि धारा सभाओं के अध्यक्षों को अमरीका के बजाय ब्रिटेन की परम्परा का पालन करना चाहिए और अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचित होते ही अपने अब तक के राजनीतिक दलों से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए। उन्हें किसी राजनीतिक या साम्प्रदायिक दल की राजनीति में किसी प्रकार भाग न लेना चाहिए। उनके लिए इतना ही काफ़ी नहीं है कि वे अध्यक्ष की कुर्सी

पर बैठ कर सब दलों के सदस्यों के साथ निष्पक्ष हो कर न्याय करेंगे, उनके लिए यह भी आवश्यक है कि किसी को उनकी निष्पक्षता में सन्देह करने की गुंजाइश ही न रहे। इसलिए उन्हें वाद-विवाद के क्षेत्र से बाहर ही रहना चाहिए। तीसरी बात यह है कि प्रधान मंत्रियों, मंत्रियों और उनके पार्लमेन्टरी सेक्रेटरियों को अपने-अपने सम्प्रदायों के वकील बनने के बजाय विभिन्न सम्प्रदायों के वकीलों के बीच पंच या न्यायाधीश बनने की कोशिश करनी चाहिए। चौथी बात यह है कि मंत्रि-मंडलों को यह नियम बना लेना चाहिए कि जो लोग मंत्रियों या उनके पार्लमेन्टरी सेक्रेटरियों से कोई प्रार्थना या शिकायत या सिफ़ारिश करना चाहते हों वे उसे सीधे न भेज कर स्थानीय अधिकारियों या सेक्रेटरियट के द्वारा भेजें। पाँचवें, राजनीतिक दलों की, विशेष कर मंत्रिमंडल वाले राजनीतिक दल की, शाखा सभाओं को स्थानीय अधिकारियों के काम में दख़ल देने या रुकावट डालने की कोशिश न करनी चाहिए। इसी प्रकार जब कोई मिनिस्टर सरकारी काम से कहीं जाने का निश्चय करे तो उसके दौरे का कार्यक्रम तैयार करना उसके राजनीतिक दल की स्थानीय शाखा सभा का नहीं बल्कि उस ज़िले के हाकिमों का काम होना चाहिए। मन्त्रिमंडलों की बातों में उनके राजनीतिक दल के लोगों को ग़ैरवाजिबी तौर पर दख़ल देने का मौक़ा मिलने से अधिकारियों की प्रतिष्ठा घटती है और दूसरे राजनीतिक दलों में नाराज़ी पैदा होती है। छठी बात यह है कि केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय कमेटियों के मेम्बर नामज़द करते समय और आनरेरी मजिस्ट्रेटों आदि की नियुक्ति करते समय मिनिस्टरों को राजनीतिक दलबंदी की भावना से मुक्त रहना चाहिए। जिस समय जो भी मंत्रिमंडल हो उसे कोई ऐसी बात न करनी चाहिए जिससे यह मालूम हो कि वह अपने दल का राज्य क़ायम करने की कोशिश कर रहा है। सातवें, चुनाव के समय किसी भी उम्मीदवार को, चाहे वह किसी भी राजनीतिक दल का

सदस्य हो, सरकारी हाकिमों या स्थानीय बोर्डों के कर्मचारियों से निर्वाचन सम्बन्धी कार्य में सहायता लेने की कोशिश न करनी चाहिए।

कामकाजी ढंग

इस सम्बन्ध में केवल एक बात और है, वह यह कि धारा सभाओं में भी और सार्वजनिक जीवन में भी सब बातें कामकाजी ढंग से होनी चाहिएँ। आज की धारा सभा के सामने इतना अधिक काम रहता है कि उसकी कार्यवाही शुरू करते समय लंबे-लंबे गीतों में समय नष्ट करना उचित नहीं कहा जा सकता। कम से कम यह बात तो पक्की है कि किसी गीत के कारण, चाहे वह कितना ही स्फूर्तिदायक हो, हिंदू-मुस्लिम सहयोग में रुकावट पैदा होने देना राजनीतिक समझदारी की बात नहीं है। अगर किसी विद्यालय या अस्पताल या पुस्तकालय या हाल (सभाभवन) का उद्घाटन संस्कार हो और इस अवसर पर एक से अधिक धर्मों के अनुयायी उपस्थित हों, तो ऐसे अवसर पर धार्मिक पूजा-पाठ का समारोह कुछ बेमौक़े मालूम देता है। इससे भी ज़रूरी बात यह है कि सार्वजनिक जीवन को पुराने समय के राजसी ठाट-बाट या धूम-धाम की याद दिलाने वाली बातों से मुक्ति मिलनी चाहिए। एक समय था जब जनता में जाग्रति और उत्साह उत्पन्न करने के लिए इनकी उपयोगिता थी, लेकिन अब वह बात नहीं रही। अब भी ऐसे विशेष अवसर आ सकते हैं जब स्पेशल ट्रेन का प्रबन्ध करना, किसी को हार पर हार पहना कर झंडों से सजी हुई मोटरकार में बिठा कर निकालना, घोड़ागाड़ी से घोड़ों को हटा कर उसे आप खींचना, किसी को म्यूनिसिपल बोर्ड की ओर से मानपत्र भेंट करना, हो-हल्ला के साथ जुलूस निकालना, या इस तरह की दूसरी बातें उचित हो सकती हैं। लेकिन इस तरह का कोई विशेष अवसर कभी-जभी बरसों में एकाध बार ही आ सकता है। इस तरह की बातों का जल्द-जल्द आते

रहना लोकतंत्र के दृष्टिकोण के अनुकूल नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो इस तरह की बातों का मतलब यह है पहले समय में स्वेच्छाचारी राजाओं और नवाबों की सभाओं और दरबारों में जिस प्रकार की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था उसी का अब सार्वजनिक जीवन में प्रदर्शन किया जा रहा है। जब जनता के नेताओं के हाथों में शासन की ज़िम्मेदारी आने लगी हो तब तो इस तरह की बातों का जारी रहना विशेष रूप से हानिकारक है। इन बातों का मतलब है मिनिस्टरों और दूसरे नेताओं का समय नष्ट करना और उन्हें व्यर्थ परेशान करना, जिसका नतीजा यही हो सकता है कि अपना असली काम करते समय उन्हें वक्त की कमी भी महसूस हो सकती है और थकावट भी। इस तरह की बातों के फल-स्वरूप जनता और उसके नेताओं के बीच एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित होने लगता है जो वांछनीय नहीं हो सकता। एक ओर जनता में अपनी बुद्धि और विवेक से काम लेने की आदत घटने लगती है, दूसरी ओर नेताओं में लोकप्रियता का मोह बढ़ने लगता है और वे यह भूलने लगते हैं कि राजनीतिज्ञ की सब से बड़ी कसौटी यही है कि ज़रूरत पड़ने पर वह जनता को अप्रिय लगने वाली बात कहने या करने में संकोच न करे। नेताओं को बहुत अधिक सम्मान मिलना उनके लिए भी अच्छा नहीं होता, क्योंकि उनके अनजाने ही उनके हृदय में ऐसी कमज़ोरी पैदा हो जाने की आशंका रहती है कि जिस आंदोलन के फल-स्वरूप उन्हें इतना आदर और महत्व मिल रहा है उसे समाप्त करने में उन्हें अनिच्छा होने लगे। जिस समय रोम प्रजातंत्र था, उसमें बहुत समय तक यह रीति रही, जो बुरी नहीं थी, कि प्रत्येक नागरिक और प्रत्येक अधिकारी को अपना कर्तव्य किये जाना चाहिए, अगर जनता किसी का धूमधाम के साथ आदर करने की ज़रूरत समझेगी तो इस सम्मान का प्रदर्शन उसके मरने पर शव-संस्कार के समय किया जायगा।

सातवाँ अध्याय

भविष्य की झलक

पृष्ठभूमि

आज भारत के सार्वजनिक जीवन में जितनी क्रियाशीलता और निष्क्रियता, जितनी सजीवता और निर्जीवता, दिखाई पड़ रही है उस सब में हिंदू-मुसलिम तनातनी की झलक साफ़ चमक रही है। भारत की राजनीतिक चेतना इसके भार से दब रही है। इसका जाल इतना फैल गया है कि जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं बचा है। जिस कठिनाई ने मानव जाति के पाँचवें भाग की उन्नति का मार्ग रोक रक्खा है, उसे समझने और हल कर सकने के लिए सामाजिक जीवन के सिद्धान्तों, संसार के इतिहास की एक हज़ार बरस की घटनाओं और आधुनिक जगत की अन्तर्राष्ट्रीय धाराओं को ध्यान में रखना होगा। इस समस्या की पृष्ठभूमि छोटी-मोटी नहीं है। अगर कोई व्यक्ति इस कठिन प्रश्न को यह कह कर उड़ा देना चाहता है कि यह सब हिन्दुओं अथवा मुसलमानों की हठधर्मी का नतीजा है, तो इसका मतलब यही हो सकता है कि उसे मनुष्य के स्वभाव की जानकारी नहीं है, आनी-जानी और टिकाऊ बातों की परख नहीं है, वह यह नहीं जानता कि मनुष्य में उन्नति और विकास की भावना कितनी प्रबल है, वह ज़रूरत आने पर अपने विचारों और ढंगों में कितना हेरफेर कर सकता है।

तीसरे का दोष

यह कहना भी कठिन नहीं है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई हैं वे सब किसी तीसरे की पैदा की हुई

हैं और इसलिए उन्हें हल करने की ज़िम्मेदारी भी उस तीसरे पर ही है। कहना न होगा कि यहाँ तीसरे से मतलब ब्रिटिश सरकार से है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में पार्थक्य—जुदाई या भेदभाव—को प्रोत्साहन देने वाली बातों से सरकार का सम्बन्ध थोड़ा ही होता है और वह भी दूर का। इतिहास पर नज़र डालने से मालूम होता है कि समाज में जो भेदभाव मौजूद होते हैं उनके प्रभाव से सरकारी नीति भी अछूती नहीं रहती। वह उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती। वह या तो उन्हें दूर करने की कोशिश करती है और या उनसे अपना काम निकालने की। यह भी हो सकता है कि वह सामाजिक ऐक्य अथवा अनैक्य की समस्या पर विशेष ध्यान न दे कर जब जो कठिनाई सामने आवे तब उसी को किसी तरह हल करने की कोशिश करके संतुष्ट हो जाय। ब्रिटेन वालों को तो अपनी इस आदत पर विशेष रूप से गर्व रहा है कि देश-विदेश के या साम्राज्य के, कहीं के भी मामलों को ले कर वे तर्क-वितर्कों में अधिक नहीं उलझते, जब जैसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तब उसका जैसे भी हो सामना करते हैं। पिछले अस्सी वर्षों में भारत में समय-समय पर जो सवाल उठे हैं, जो कठिनाइयाँ पेश आई हैं, उन्हें अलग-अलग हल करने की कोशिश में ब्रिटिश सरकार से ऐसी बातें हो गई हैं जिनसे विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के बीच भेदभाव बने रहने में, बल्कि उनके बढ़ने में भी, मदद मिली है। देश से निरक्षरता और निर्धनता को मिटा देने की जैसी चाहिए थी वैसी कोशिश न करना, कुछ बातों में भेदभाव की नीति बरतना, चुनाव के लिए पृथक निर्वाचन की प्रणाली को स्वीकार करना, और देश के राजनीतिक निपटारे में बहुत अधिक देर लगाना, ये सब ऐसी ही बातें हैं। और इनसे भी बुरी बात उसकी यह घोषणा है कि विभिन्न समुदायों के बीच आपसी समझौता होने पर ही देश राजनीतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। यह राजनीतिक उन्नति के क्षेत्र में उलटी धारा बहाने की कोशिश करना है।

इस घोषणा का अर्थ यह है कि उन्नति होने देने या न होने देने का फ़ैसला अल्प-संख्यक समुदायों के हाथ में दे दिया गया है।

मुख्य समस्या

इन सब बातों से इसी विचार की पुष्टि होती है कि साम्प्रदायिक समस्या से भी बड़ी एक और समस्या है और हिंदू-मुसलिम समस्या उसका केवल एक पहलू है। वह बड़ी समस्या यह है कि देश में जो शासन-प्रणाली चल रही है उसके स्थान पर ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाय जो सामाजिक सामंजस्य के लिए सदा प्रयत्नशील रहे और जो किसी नैतिक ध्येय से प्रेरित हो कर ही शासन-शक्ति का उपयोग करे। जब शासन-शक्ति जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में आ जायगी, तो उनमें ज़िम्मेदारी की एक नई भावना जाग उठेगी और उन्हें आपस में समझौता करके काम चलाने की ज़रूरत साफ़ तौर पर महसूस होने लगेगी। इससे हिंदू-मुसलिम समस्या को हल करने में मदद मिलेगी। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में शासन-शक्ति आ जाने भर से ही साम्प्रदायिक समस्या अपने आप हल हो जायगी।

संगठन

यह सोचना कि हिंदुओं का या मुसलमानों का या दोनों का अलग-अलग संगठन होने से समस्या हल हो जायगी, बड़ी भारी भूल है और इससे हानि भी हो सकती है। आवश्यकता तो देश के सभी लोगों में संगठन या एकता लाने की है। पहले तो इस ज़माने में धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर संगठन हो सकने ही में बड़ा संदेह है। इस प्रकार के संगठन में स्थिरता लाने के लिए जिस धार्मिक आवेश या उत्साह का होना ज़रूरी है, वह इस लौकिकता के युग में असम्भव नहीं तो बहुत

कठिन तो है ही। दूसरे यह भी सम्भव नहीं है कि हिंदू और मुसलमान अपने झगड़ों को ले कर फ़ुर्सत से लड़ते-झगड़ते रहें और कोई तीसरा इसमें दख़ल न दे। वे न तो ब्रिटिश सरकार की ही उपेक्षा कर सकते हैं और न अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की ओर से आँखें बंद कर सकते हैं। समस्या को युद्ध के द्वारा हल कर सकना इसलिए भी असम्भव है कि देश के प्रत्येक भाग में सभी जगह हिंदू और मुसलमान दोनों ही साथ-साथ बसे हुए हैं। इसके सिवाय दोनों ही इस प्रकार के घरेलू युद्ध को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए अगर तनातनी बहुत भी बढ़ी तो उसका नतीजा यही हो सकता है कि जहाँ-तहाँ, वह भी विशेष कर नगरों में, दंगे हो जायँ और उनके द्वारा लोगों की उत्तेजना शांत हो जाय।

साम्प्रदायिक दंगे

अगर दंगे अक्सर होने लगते हैं तो इससे सामाजिक व्यवस्था की परम्पराएँ टूटने लगती हैं और लोगों के सद्व्यवहार सम्बन्धी आदर्श ढीले पड़ने लगते हैं। लोग मनुष्यता की ओर से हट कर पशुता की ओर बढ़ने लगते हैं। समाज में एक पाशविक निर्दयता जाग उठती है जो लूटमार करने, अग्निकांड रचने, निरपराधों पर छिप कर हमला करने, बूढ़ों, स्त्रियों और मासूम बच्चों पर भी चोट करने में नहीं झेंपती। पशुबल के इस नंगे नाच की वजह से अधिकारियों के लिए कड़ी कार्रवाई करना ज़रूरी हो जाता है और लोकमत भी यही चाहने लगता है। इस तरह दंगों की बदौलत स्वराज्य की प्रगति में रुकावट पड़ना भी लाज़मी है, क्योंकि अगर लोगों के सामने यह सवाल आ जाता है कि उन्हें जीवन-रक्षा की अधिक चिंता है या स्वतंत्रता की, तो वे पहला स्थान जीवन-रक्षा को देते हैं। दंगों के कारण उत्पन्न होनेवाली सामाजिक अव्यवस्था से देश की बाहरी हमले को रोकने की ताक़त को भी

धक्का लगता है। उनकी बदौलत उन बदमाशों और गुंडों की बन आती है जो दूसरे सम्प्रदाय वालों को ही नहीं अपने सहधर्मियों को भी लूटने-खसोटने में किसी तरह का पसोपेश नहीं करते। कभी-कभी उनकी वजह से ऐसी हालत भी पैदा हो जाती है कि लोगों के लिए त्योहार मना सकना या बारात निकाल सकना भी बिना पुलिस की सहायता के असम्भव हो जाता है। वातावरण में इतनी उत्तेजना भर जाती है कि बिना किसी विशेष कारण के भी मार-पीट और लड़ाई-झगड़े की शुरूआत हो सकती है। जिस समाज में लोगों को भयभीत और अपनी रक्षा के लिए चिंतित रहना पड़े, उसकी व्यवस्था निम्न कोटि की ही कही जायगी। अगर किसी समय संघर्ष की तीव्रता बढ़ गई तो उसका असर सरकारी कर्मचारियों पर भी पड़ सकता है। शांति की रक्षा का भार जिन कर्मचारियों पर है, अगर वे भी संघर्ष के दूषित वातावरण से प्रभावित हो जायँ तो गड़बड़ी इतनी बढ़ सकती है कि उसे अव्यवस्था के बजाय अराजकता कहना ज़्यादा ठीक होगा।

निष्क्रियता की निष्फलता

राष्ट्र की समस्या साम्प्रदायिक संगठन से हल नहीं हो सकती। दूसरी ओर, कुछ न करने, हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाने और हिंदू-मुसलिम समस्या को भाग्य या संयोग के भरोसे छोड़ देने की नीति से भी काम नहीं चल सकता। इतनी बड़ी और जटिल समस्या स्वयं आप से आप हल नहीं हो सकती। उसे हल करने के लिए कोशिश करनी पड़ेगी, कुछ भ्रान्त धारणाओं और ग़लतफ़हमियों को दूर करना पड़ेगा।

सफलता का मार्ग

जितना ही इस बात को समझ लिया जायगा कि हिंदू-मुसलिम समस्या भारतीय समस्या का केवल एक पहलू है, उतना ही उसे हल

कर सकना आसान हो जायगा । बहुत समय तक पराधीनता, निर्धनता, अशिक्षा, निरक्षरता, अंधविश्वास, आदि के वातावरण में रहने से देश में जो मनोवृत्ति उत्पन्न हो गई है वह जनता को अपने कल्याण के मार्ग पर चल सकने से रोक रही है और यह हिंदू-मुसलिम समस्या उसी मनोवृत्ति का एक परिणाम या पहलू है । लोगों का मानसिक क्षितिज इतना संकीर्ण हो गया है, उनकी इच्छाओं और चाहनाओं का दायरा इतना तंग हो गया है, कि वे जिस बुरी हालत में ज़िंदगी बिता रहे हैं उससे ऊपर उठने का सवाल उनके दिमाग़ में नहीं उठ पाता । यह बात उनकी समझ में नहीं आती कि आपस में मेल-जोल रख कर, सहयोगपूर्वक प्रयत्न करके वे अपनी भी हालत सुधार सकते हैं और दूसरों की हालत सुधारने में भी सहायक हो सकते हैं । बजाय इसके उन्हें यह पसंद है कि जो थोड़ा सा पहले से मौजूद है और जो सब के लिए काफ़ी नहीं है, उसी के लिए आपस में लड़ते-झगड़ते रहें ।

उन्नति के विभिन्न पहलू

नौकरशाही को बहुत समय से शासन-शक्ति का उपभोग करते-करते उससे ऐसा मोह हो गया है कि वह उसे प्रसन्नता से छोड़ देने को तैयार नहीं है । उसे शासन-शक्ति जनता के हाथों में सौंप देने के लिए तभी मजबूर किया जा सकता है जब हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हो । लेकिन हिंदू-मुसलिम एकता की उपयोगिता केवल इतनी ही नहीं है । जनता के जीवन को ऊँचा उठा सकने के लिए भी उसकी आवश्यकता है । जनता को शिक्षित बनाने, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक सामंजस्य की स्थापना करने, उसके जीवन में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न करने, उसकी आर्थिक अवस्था सुधारने, देश को अपनी रक्षा कर सकने योग्य बनाने और शासन-प्रणाली में समयानुकूल परिवर्तन कराने

के लिए जिस बहुमुखी क्रियाशीलता की आवश्यकता है, हिंदू-मुसलिम एकता उसका एक आवश्यक अंग है।

एक दूसरे से सम्बन्ध

समाज में बहुत से समुदाय होते हैं, जिनके हितों में कुछ साम्य भी रहता है और कुछ विरोध भी। उनके आपस के सम्बन्धों के ताने-बाने से ही वह जाल तैयार होता है जिसे सामाजिक सङ्गठन कहते हैं। यदि समाज की किसी एक दिशा में उन्नति हो जाती है, तो अन्य दिशाओं में भी उन्नति, सुधार या परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। यदि ऐसा न होगा तो उसके सङ्गठन में त्रुटि आ जायगी, उसका संतुलन बिगड़ जायगा। इसलिए समाज की उन्नति के लिए प्रयत्न करने वालों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उन्नति के सभी पहलुओं का, जीवन के सभी क्षेत्रों का, ध्यान रक्खें और उनके सामंजस्य में कमी न आने दें। सहयोग और सामंजस्य उन्नति के लिए आवश्यक हैं। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है त्यों-त्यों आपसी विरोध दूर हो कर मिटते रहते हैं।

विधान-सम्मेलन में ख़तरा

देश की राजनीतिक समस्या को हल करने के लिए जो प्रस्ताव उपस्थित किये गये हैं, उनमें एक यह है कि देश की समस्त जनता के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हो और वह देश के भावी विधान का निर्णय करे। इस प्रस्ताव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, परन्तु जब तक हिंदुओं और मुसलमानों के बीच इस बात पर समझौता न हो जाय कि वे अपने प्रतिनिधियों को मिल-जुल कर यानी संयुक्त निर्वाचन की प्रणाली से चुनेंगे, तब तक विधान सम्मेलन की योजना को ख़तरे से ख़ाली न समझना चाहिए। इस प्रकार के सम्मेलन के

समर्थकों का यह विचार है कि साम्प्रदायिकता का विष अभी मध्य वर्ग के लोगों में ही फैल पाया है और साधारण जनता उससे बची हुई है। इसलिए वे समझते हैं कि जिस सम्मेलन के प्रतिनिधियों का चुनाव समस्त जनता के द्वारा होगा, वह साम्प्रदायिकता के रोग से बचा रह कर विधान सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार कर सकेगा। परन्तु यदि सम्मेलन के लिए यह बात मान ली गई कि हिंदू और मुसलिम जनता के नुमाइंदों का चुनाव अलग-अलग होगा, तो इस बात का बहुत डर है कि उम्मीदवारों के प्रोपेगेंडा की बदौलत साम्प्रदायिकता का विष सारी जनता में फैल जायगा। यह भी याद रखने की बात है कि विधान सम्मेलन विधान तैयार करने का साधन है, साम्प्रदायिक भेदभावों और मनोमालिन्य को दूर करने का नहीं।

पंच-फ़ैसला

इसलिए यही उपाय बच रहता है कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं के विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि और दूसरे राजनीतिक नेता मिल कर एक सर्व-दल-सम्मेलन जैसी सभा की आयोजना करें और उसमें देश के भावी विधान सम्बन्धी प्रश्नों को तै करें। परंतु यह सम्भव है कि कुछ प्रश्नों का निर्णय इस सम्मेलन के द्वारा न हो सके। ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध के कुछ प्रश्नों का निर्णय कराने में पंच-फ़ैसले का ढंग बहुत सहायक हो सकता है। जिन मसलों पर समझौता न हो सके उनका दोनों पक्षों की अनुमति से दिल्ली की बड़ी अदालत (फ़ैडरल कोर्ट) या लंदन की प्रिवी कौंसिल या हैग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय या अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत सभा की कमेटी से पंच-फ़ैसला कराया जा सकता है। हाल में कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव भी किया है कि भारत के प्रश्न का संयुक्त-राष्ट्र के राष्ट्रपति अथवा मित्र राष्ट्रों के अध्यक्षों से पंच-फ़ैसला करा लिया जाय। भारत, ब्रिटेन और संयुक्त-

राष्ट्र के कतिपय प्रतिष्ठित व्यक्ति यह मत प्रकट कर चुके हैं कि भारत का मसला अब केवल ब्रिटेन और भारत का ही प्रश्न नहीं रह गया है बल्कि सारे संसार का प्रश्न बन गया है, यानी संसार की समस्या संतोष-जनक रूप से हल हो सकने के लिए जिन प्रश्नों का निर्णय हो जाना आवश्यक है उनमें एक भारत का प्रश्न भी है, और इसलिए संसार के पुनर्संगठन अथवा पुनर्निर्माण के प्रश्न पर विचार करते समय भारत को भुलाना ठीक न होगा।

सार्वजनिक जीवन की मर्यादा

सभी देशों में और भारत में भी इस बात की आवश्यकता है कि सार्वजनिक जीवन की मर्यादा की रक्षा की जाय और उसे और भी ऊँचे धरातल पर ले जाने की कोशिश की जाय। चुनाव के समय भेद-भाव बढ़ाने वाली बातों को उठाना अच्छा नहीं। सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वालों को यह कभी न भूलना चाहिए कि वे ऐसे कार्य में लगे हुए हैं जिसमें ज्ञान, चरित्रबल और उदार दृष्टिकोण आवश्यक हैं। उनके लिए राजनीति का अनुभव एक अच्छी बात है। त्याग की भावना और भी बड़ी बात है, क्योंकि वह इस बात का प्रमाण है कि उनकी लोक-सेवा में स्वार्थ की भावना नहीं है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें इतिहास, समाज-विज्ञान और संसार की राजनीति की जानकारी हो। राजनीतिक प्रश्नों पर समझदारी के साथ अपना मत स्थिर कर सकने के लिए इस जानकारी का होना ज़रूरी है। ज्यों-ज्यों शासन-शक्ति भारतवासियों के हाथ में आती जायगी और शासन-कार्य का अनुभव रखने वाले भारतीयों की संख्या बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में ज़िम्मेदारी की भावना अपने आप भी बढ़ती रहेगी। लेकिन इसके साथ ही एक और सुधार की बड़ी आवश्यकता है और वह कोशिश करने

से ही होगा। वह सुधार यह है कि वाद-विवाद में दोनों पक्ष वाले शिष्टता के नियमों का ध्यान रक्खें और लोगों को उत्तेजित करने या उनकी भावनाओं को प्रभावित करने के बजाय उनकी विवेक-बुद्धि को जाग्रत करने की कोशिश करें। बात को बढ़ा कर कहने या ग़लत ढंग से बयान करने से समझौते में रुकावट पड़ती है और संघर्ष की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। जॉन मॉर्ले ने कहा था कि भारत में अशिष्टता इतनी हानिकारक हो सकती है कि उसे भारी अपराध कह सकते हैं। उन्होंने यह बात अंग्रेज़ों को लक्ष्य करके कही थी, परंतु वह सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले सभी लोगों की बाबत ठीक है। सन् १६२६-३० और १६३७-४० में कई बार ऐसा हुआ कि कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच समझौते की बातचीत केवल शिष्टता के नियमों का पालन न होने के कारण ही शुरू होते-होते रुक गई। जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति ही सार्वजनिक जीवन में भी और शासन-क्षेत्र में भी विनम्रता का अपना स्थान और महत्व है। विनम्रता सहयोग का द्वार खोल देती है और अधिकारी वर्ग को अधिकार-मत्त हो कर अनुचित मार्ग पर जाने से बचाती है।

अनुकूल बातें

इसमें संदेह नहीं कि हिंदू-मुसलिम समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है, परंतु यह बात कदापि नहीं है कि वह हल न हो सकती हो। वह लाइलाज मर्ज़ नहीं है। जब भी वादविवाद की गरमी कम हो जाती है और शांतिपूर्वक विचार कर सकना सम्भव होता है, तभी प्रायः इस बात का पता चल जाता है कि मनुष्य-मनुष्य को एक दूसरे से जुदा रखने वाली बातों की बनिस्बत उन्हें एक दूसरे की ओर खींचने वाली बातों में ज़्यादा गहराई है। संसार के ख़ास-ख़ास धर्मों की बहुत सी बातें आपस में मिलती-जुलती हैं। भारत में कई

धर्मों के अनुयायी रहते हैं, परंतु यह बात नहीं है कि जो लोग एक धर्म के मानने वाले हैं वे सब एक ही जाति के या एक ही भाषा बोलने वाले भी हों। यह भी ज़रूरी नहीं है कि अगर दो समुदाय धर्म की दृष्टि से एक न हों तो साथ ही वे जाति या भाषा की दृष्टि से भी एक न हों। जो बात जाति या भाषा की बाबत कही गई है वही संस्कृति के सम्बन्ध में भी लागू है। मध्यकालीन भारत में साहित्य और कला के क्षेत्र में जिस एकता का विकास हुआ था, वह भी बिलकुल ख़तम नहीं हो गई है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग अक्सर आर्थिक हिताहित के सूत्र से भी आपस में बँधे रहते हैं। एक दूसरे के धर्म को आदर की दृष्टि से देखने की परम्परा भारत में तीन हज़ार बरस से चली आ रही है। हिंदू और मुसलमानों दोनों ही के धर्मशास्त्रों में सदाचार के उच्च आदर्शों पर ज़ोर दिया गया है। रोम के इतिहास का कोई भी जानकार इस बात को भुला नहीं सकता कि सभ्यता का उत्थान ही नहीं पतन भी सम्भव है, परंतु भारतीय सभ्यता इस बात का काफ़ी सबूत दे चुकी है कि उसमें सजीवता की कमी नहीं है। पिछले सौ बरसों में उसने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के रहते हुए भी अनेक बातों में अपने को नये वातावरण के अनुकूल बना लिया है। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी विकास की क्षमता समाप्त नहीं हो गई है। उसमें विज्ञान को ग्रहण कर लेने, साम्प्रदायिकता से मुक्ति प्राप्त कर लेने और आधुनिक जगत के साथ कंधे से कंधा मिला कर चल सकने की शक्ति मौजूद है। ऐसे अनेक व्यक्तियों को जन्म दे कर जिन्होंने निस्स्वार्थ समाज-सेवा की भावना से प्रेरित हो कर बड़े से बड़ा त्याग और बलिदान करने में संकोच नहीं किया है, वह सजीवता की सब से कड़ी कसौटी पर खरी उतर चुकी है। यह भावना अधिकाधिक बढ़ रही है कि देश से निरक्षरता और निर्धनता को मिटा देना ज़रूरी है और यह तभी सम्भव है जब कि सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए सहयोगपूर्वक प्रयत्न किया जाय।

संसार की वर्त्तमान परिस्थिति अगर किसी हद तक भारत की उन्नति में बाधक है तो किसी हद तक उसमें सहायक भी है। उसके कारण भारत-वासियों का संसार छोटे से बड़ा हो रहा है। भारत को इस समय जिस ख़तरे का सामना करना पड़ रहा है, उसी का नतीजा यह भी हो सकता है कि भारत के राजनीतिक दलों में एकता उत्पन्न हो जाय और वे उन झगड़े की बातों को भूल जायँ जिनके लिए शांति-काल ही में फ़ुर्सत हो सकती है। कभी-कभी तो आंतरिक संकट भी लोगों में एक नया नैतिक बल उत्पन्न कर देता है। दो बार—एक बार ईसवी-पूर्व सन् ४६४ में और दूसरी बार ४४६ में—रोम का प्रजातंत्र अंग-भंग हो कर टूट-फूट जाने की सम्भावना उपस्थित हुई, परंतु दोनों बार रोम के देशभक्तों ने आपसी समझौते के द्वारा पुनः शांति की स्थापना करके उसे बचा लिया।

नैतिक प्रयत्न की आवश्यकता

संस्थाओं के पुनर्संगठन से हिंदू-मुसलिम समस्या को हल करने में बड़ी सहायता मिल सकती है, यह तो बिलकुल स्पष्ट है, परंतु संस्थाओं से अधिक महत्वपूर्ण उनको अनुप्राणित करने वाली भावना होती है। सामाजिक जीवन का आधार आत्म-नियंत्रण है। आपस के सम्बन्ध को ठीक तरह से क़ायम रखने के लिए मनुष्यों को अपने आप को कुछ नियमों के बंधन में बाँधना पड़ता है और उन नियमों का पालन करने की कोशिश करनी पड़ती है। आपसी सहानुभूति में गहराई लाने के लिए, अपने हृदय में लोकहित की भावना जाग्रत रखने के लिए, और जीवन में सहयोग तथा सामंजस्य को प्रोत्साहन देनेवाली प्रवृत्तियों का बल बढ़ाने के लिए एक नैतिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जिन्हें इस बात में विश्वास है कि मनुष्य का कल्याण पारस्परिक स्नेह और हेलमेल के बढ़ने में है, उन सबका कर्तव्य है कि वे नित्यप्रति के जीवन में इस बात का प्रयत्न करते रहें कि दान-पुण्य, शिक्षा-प्रचार, आर्थिक

उन्नति, राजनीति, आदि के क्षेत्रों में लोगों को मिल-जुल कर कार्य कर सकने का अधिक से अधिक अवसर मिल सके।

भविष्य की झलक

हमारी आँखों के सामने एक नई दुनिया बन रही है। आन्तरिक एकता प्राप्त कर लेने के बाद भारत अपने जन-बल, अपने साधनों तथा अपने दृष्टिकोण की बदौलत इस दुनिया को बनाने में अपना उचित भाग ले सकता है। रंगमंच पर जो घने अंधकार का पर्दा पड़ता दिखाई दिया था वह उठ सकता है और उसके उठ जाने पर अनेकता में एकता का अनुभव कराने वाले आध्यात्मिक विकास के दर्शन हो सकते हैं और विश्व-बंधुत्व की स्थापना की आशामयी झलक दिखाई पड़ सकती है। भविष्य के आह्वान को सुनने और सुवर्णमय भविष्य के स्वप्न देखने का नवयुवकों को विशेष अधिकार है। उनकी सजीवता, सहनशक्ति और त्यागशीलता के फल-स्वरूप देशभक्ति, उदारता तथा मानवता की परिधि बढ़ सकती है। यह उनका कार्य है कि वे समाज का व्यापक रूप से पुनर्संगठन तथा पुनर्निर्माण करने में अपनी शक्ति लगा दें और इस बात का दृढ़ निश्चय कर लें कि वे जीवन के उच्च आदर्शों को कभी न भूलेंगे। एवमस्तु।

परिशिष्ट

भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों की जन-संख्या

सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक़

	जन-संख्या	फ़ी दस हज़ार पीछे अनुपात
हिंदू	२३,९१,९५,०००	६,८२४
जैन	१२,५२,०००	३६
बौद्ध	१,२७,८७,०००	३६५
सिक्ख	४३,३६,०००	१२४
पारसी	१,१०,०००	३
मुसलमान	७,७६,७८,०००	२,२१६
ईसाई	६२,९७,०००	१७९
यहूदी	२४,०००	१
जंगली लोग	८२,८०,०००	२३६
अन्य धर्मों के मानने वाले या जिनका धर्म दर्ज नहीं किया गया	५,७१,०००	१६

सन् १६४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार

(सब संख्याएँ लाखों में हैं)

	ब्रिटिश भारत में	देशी राज्यों में	कुल जोड़
हिंदू—			
हरिजन	३,६८	८८	४,८६
अन्य हिंदू	१५,०८	५,६०	२०,६८
मुसलमान	७,६४	१,२३	६,१७
जंगली जातियाँ	१,६८	८३	२,५१
सिक्ख	४२	१५	५७
ईसाई	३५	२५	६०
बाक़ी लोग	१२	१०	२२